अनेकान्त

वीर सेवा मंदिर
21, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

वीर सेवा मंदिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

प्रवर्त्तक : आ. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

इस अंक में -

कहाँ/क्या?

वर्ष-55, किरण-4
अक्टूबर-दिसम्बर 2002

सम्पादक :
डॉ. जयकुमार जैन
261/3, पटेल नगर
मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)
फोन : (0131) 2603730

परामर्शदाता :
पं. पद्मचन्द्र शास्त्री

संस्था की
आजीवन सदस्यता
1100/-
वार्षिक शुल्क
30/-
इस अंक का मूल्य
10/-
सदस्यों व मंदिरों के
लिए नि:शुल्क

प्रकाशक :
भारतभूषण जैन, एडवोकेट

मुद्रक :
मास्टर प्रिन्टर्स- 110032

विशेष सूचना : विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक उनके विचारों से सहमत हो। इसमें प्राय: विज्ञापन एवं समाचार नहीं लिए जाते।

वीर सेवा मंदिर

21, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, दूरभाष : 23250522

संस्था को दी गई सहायता राशि पर धारा 80-जी के अंतर्गत आयकर मे छूट

(रजि. आर 10591/62)

जे दिन तुम विवेक बिन खोये

-कविवर भागचन्द

मोह वारुणी पी अनादितैं, परपद में चिर सोये।
सुखकरंड चितपिंड आपपद, गुन अनंत नहिं जोये॥
जे दिन तुम विवेक बिन खोये 1

होय बहिर्मुख ठानि राग रुख, कर्म बीज बहु बोये।
तसु फल सुख दुख सामग्री लखि, चित में हरषे रोये॥
जे दिन तुम विवेक बिन खोये 2

धवल ध्यान शुचि सलिलपूरतैं, आस्रवमल नहिं धोये।
परद्रव्यनि की चाह न रोकी, विविध परिग्रह ढोये ॥
जे दिन तुम विवेक बिन खोये 3

अब निज में निज जान नियत तहां, निज परिनाम समोये।
यह शिवमारग समरससागर, 'भागचन्द' हित तोये ॥
जे दिन तुम विवेक बिन खोये 4

बोधपाहुड में वर्णित प्रव्रज्या : एक समीक्षा

-डॉ. जयकुमार जैन

कुन्द कुन्दाचार्य एवं अष्टपाहुड

'मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैन धर्मोऽस्तु मंगलम्॥'

किसी भी मंगल कार्य के पूर्व जैनों में उक्त श्लोक पढ़ने की परम्परा है। स्पष्ट है कि चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर और उनकी दिव्यध्वनि के धारक तथा द्वादशांग आगम के प्रणेता गौतम गणधर के पश्चात् श्री कुन्दकुन्दाचार्य को प्रधानता दी गई है। आचार्य कुन्दकुन्ददेव श्रमण संस्कृति के उन्नायक एवं अध्यात्म विषयक साहित्य के युगप्रधान आचार्य तो हैं ही, वे एक कुशल अनुशासक भी हैं। मूलसंघ के पट्टाचार्य कुन्दकुन्दाचार्य की अष्टपाहुड ऐसी महनीय कृति है जिसमें उनका कठोर प्रशासक का रूप दृष्टिगोचर होता है। इसमें दर्शन, चरित्र, सूत्र, बोध, भाव, मोक्ष, लिङ्ग और शील इन आठ पाहुडों का समावेश है। इन पाहुडों में कुन्दकुन्दाचार्य ने आज से 2000 वर्ष पूर्व शिथिलाचार के विरुद्ध जो सशक्त आवाज बुलन्द की थी, वह प्रत्येक काल में पूर्णतया सर्वथा प्रासंगिक रही है। अवसर्पिणी काल में शिथिलाचार का उत्तरोत्तर बढ़ना जब निरन्तर जारी हो, तब इन पाहुडों की उपयोगिता और अधिक बढ़ गई है।

वर्तमान में अष्टपाहुड की उपादेयता

आज दिगम्बर परम्परा के श्रमणों में जब अनियत विहार की प्रवृत्ति का अभाव सा हो रहा हो एवं कतिपय साधु-साध्वियों में मठाधीशपना बढ़ रहा हो, आचार्य के अनुशासन का उच्छृंखलतापूर्वक निरादर किया जा रहा हो तथा साधु एकल विहारी बनते जा रहे हों, शिष्यों की लोलुपता में सीमातीत वृद्धि हो रही हो तथा भ्रष्ट, एवं अयोग्य व्यक्तियों को संघ में दीक्षा दी जा रही हो, साधु-साध्वियाँ अपने उपदेशों में अन्य साधु-साध्वियों पर कटाक्ष कर रहे हों,

आचार्य/उपाध्याय बनने की होड़ लगी हो तथा संघ में एक भी साधु न होने पर भी यद्वा तद्वा आचार्य/उपाध्याय पद ग्रहण किये जा रहे हों, संघ में ब्रह्मचारिणी बहनों की पैठ बढ़ रही हो एवं उनमें कुछ के हीन आचरणों से साधुओं की चारित्र गर्हा हो रही हो, साधु-साध्वियाँ स्वयं धन-संग्रह एवं निर्माण कार्यो में रुचि ले रहे हों, साधु-साध्वियाँ अपने नामों पर संघ बनवाकर समाज में पार्टीवाजी एवं वैमनस्य का निमित्त बन रहे हों तथा साधुओं के नाम पर भक्त विभक्त हो रहे हों, साधु समाज के कुछ ठेकेदारों को प्रेरित कर तरह-तरह की उपाधियाँ ग्रहण कर रहे हों, पीछी कमण्डलु एवं शास्त्र के अतिरिक्त लौकिक साधनों जैसे टी.वी., कूलर, फोन आदि रखकर एक सद्गृहस्थ की सीमा से भी नीचे गिर रहे हों, मन्त्र-तन्त्र का दुरुपयोग करना उनका नित्य कर्म बन गया हो, संघ में नौकर-चाकर, रुपया-पैसा, चौका-चूल्हा, मोटर-गाड़ी आदि रखना कालानुसार समीचीन माना जाने लगा हो और दिगम्बर सन्तों की भी प्रथमानुयोग के दृष्टान्त छोड़कर विकथाओं में रुचि होने लगी हो तथा बड़े-बड़े नेताओं को अपने कार्यक्रमों में आमन्त्रित कराके मान कषाय को पुष्ट किया जा रहा हो, राजकीय अतिथि बनने में दिगम्बर साधु भी आनन्दित हो रहे हों तब अष्टपाहुड के अनुशासन की महत्ता और भी बढ़ गई है। आज समृद्धि एवं सुविधाओं के बढ़ जाने से श्रावक तो शिथिलाचारी हुआ ही है, साथ ही वह साधुओं में तीव्रगति से बढ़ रहे शिथिलाचार को दत्तचित्तता से संरक्षण प्रदान कर रहा है और उसे पुष्ट करने में सतत संलग्न है।

अष्टपाहुड उपर्युक्त शिथिलाचार के विरुद्ध एक अंकुश है जो हीनवृत्त रूपी मदोन्मत्त गजराज को नियन्त्रित करने में काफी हद तक समर्थ हो सकता है। अष्टपाहुड पर खुलकर चर्चा करने से शिथिलाचार के विरुद्ध एक वातावरण का निर्माण होगा जो समाज को जागरूक बनाकर उन्हें तथा दिगम्बर सन्तों को कुन्दकुन्दाचार्य के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलने को प्रेरित कर सकेगा। वस्तुतः कुन्दकुन्दाचार्य का व्यक्तित्व जहाँ एक ओर अध्यात्म प्रतिपादन में कुसुम से भी सुकुमार है वहाँ दूसरी ओर प्रशासक आचार्य के रूप में वज्र से भी कठोर है। वे स्वयं आचार परिपालन करने तथा संघस्थ साधुओं को आचार ग्रहण कराने में सच्चे आचार्य हैं। उनके इस लोकोत्तर रूप को जानकर ही

कविवर वृन्दावनदास ने कहा है-**'हुए हैं न होंहिंगे मुनिंद कुंदकुंद से।'**

बोधपाहुड एवं उसका प्रतिपाद्य

श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत अष्टपाहुड में बोधपाहुड अल्पकाय किन्तु महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यह बासठ गाथाओं में निबद्ध है, जिसमें निम्नलिखित 11 विषयों का संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित विवेचन हुआ है- आयतन, चैत्यग्रह, जिनप्रतिमा, दर्शन, जिनबिम्ब, जिनमुद्रा, ज्ञान, देव, तीर्थ, अरिहन्त और प्रव्रज्या। सभी ग्यारह स्थानों के विषय में कहा गया है कि निश्चय से निर्ग्रन्थ साधु ही आयतन है, वही चैत्यग्रह है, वही जिन प्रतिमा है, वही दर्शन है, वही जिनबिम्ब है, वही जिनमुद्रा है, वही ज्ञान है, वही देव है, वही तीर्थ है और वही अरिहन्त है। यहाँ पर ज्ञातव्य है कि साधुओं में अरिहन्त को भी समाविष्ट किया गया है। आयतन का अर्थ है धर्मस्थान। वास्तविक आयतन तो धर्मधारी मुनिराज ही है, व्यवहार से उनके आवास को आयतन कहा जाता है। चैत्यग्रह का अर्थ है-जिनालय। षट्काय के जीवों की रक्षा करने वाले मुनिराज ही वास्तव में चैत्यग्रह हैं, व्यवहार से जिनालय को भी चैत्यग्रह कहा गया है। प्रतिमा का अर्थ है मूर्ति। वास्तव में निर्ग्रन्थ मुनि की जंगम देह ही प्रतिमा है और सिद्ध अचल प्रतिमा है। वही वन्दनीय है। व्यवहार से धातु या पाषाण प्रतिमा भी वन्दनीय है। दर्शन का अर्थ है जिनदर्शन। मुनिराज का स्वरूप जिनेन्द्र भगवान् का रूप है अत: वे साक्षात् दर्शन हैं। निर्ग्रन्थ मुनिराज ही वस्तुत: जिनदेव के प्रतिबिम्ब है। संयम में दृढ़ मुनिराज ही जिनमुद्रा है। मोक्षमार्ग की हेतु रूप शुद्धात्मा ज्ञान से प्राप्त होती है। उसके धारक निर्ग्रन्थ मुनि हैं अत: निर्ग्रन्थ साधु ही ज्ञान हैं। देव वीतरागी होते हैं। निर्ग्रन्थ मुनि वीतरागी हैं या उस मार्ग के पथिक हैं अत: वे ही देव हैं। जिससे तिरे उसे तीर्थ कहते है। निर्मल आत्मा वास्तव में तीर्थ है। निर्ग्रन्थ मुनिराजों की आत्मा सम्यक्त्व एवं महाव्रतों से शुद्ध, इन्द्रियों से विरक्त तथा भोगों की इच्छा से रहित निर्मल होती है अत: निर्ग्रन्थ साधु ही तीर्थ है। सभी केवलज्ञानी अरिहन्त होते है। निर्ग्रन्थ साधु ही इस पद को प्राप्त कर सकते हैं, अत: कारण में कार्य का उपचार मानकर कहा जा सकता है कि निर्ग्रन्थ साधु ही अरिहन्त हैं। प्रव्रज्या दीक्षा को कहते हैं और प्रव्रज्या धारी निर्ग्रन्थ साधु होता है, अत:

निर्ग्रन्थ साधु को ही प्रव्रज्या कहा गया है। उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि उक्त ग्यारह स्थानों के माध्यम से वास्तव में निर्ग्रन्थ साधु के स्वरूप को ही स्पष्ट किया गया है।

श्रुतसागरी टीका

आचार्य कुन्दकुन्द कृत अष्टपाहुडों में से लिंगपाहुड एवं सीलपाहुड को छोड़कर शेष छह पाहुडो पर (16वीं शताब्दी में लिखित) भट्टारक श्रुतसागर सूरि की संस्कृत टीका उपलब्ध है। यह टीका श्री जयसेनाचार्य की टीका की भांति पदखण्डान्वयी है। टीकाकार ने 'नामूलं लिख्यते किञ्चित्' की पद्धति को न अपना कर कहीं-कहीं भावों को तोड़ा मरोड़ा है तो कहीं-कहीं परमतखण्डन में असहिष्णुता दिखाई है। बोधपाहुड की 17वीं गाथा की टीका में बिना प्रसंग के ही उन्होंने भक्तों से अपनी पूजा कराने के लिए जोरदार उपदेश दिया है। वे लिखते हैं-'तुम सब पूजा करो, अष्टविध अर्चन करो तथा विनय करो। हाथ जोड़ना, पैरों में पड़ना, सन्मुख जाकर लिखा लाना वात्सल्य, भोजनपान, पदमर्दन, शुद्ध तैलादि से मालिश, प्रक्षालन आदि सब काम तीर्थकर नामकर्म के उपार्जन के हेतुभूत हैं। (जैन सा.का. इति. पृ. 375-376)

गाथा 27,32,33 एवं 43 की टीकाओं में अनावश्यक विस्तार किया है जो प्रवाह को अवरुद्ध करता है। यह टीका कुन्दकुन्द की भावना के अनुकूल नही जान पड़ती है।

प्रव्रज्या शब्द का अर्थ

आयतन आदि ग्यारह स्थानों में प्रव्रज्या का निर्ग्रन्थ साधु के साथ सीधा सम्बन्ध होने के कारण विशेष महत्त्व है। प्रव्रज्या शब्द प्र उपसर्ग पूर्वक व्रज् धातु से क्यप् तथा स्त्रीत्व विवक्षा में टाप्-प्रत्यय करने से निष्पन्न होता है जिसके अनेक अर्थो मे दीक्षा, अनगारी का जीवन, साधु के रूप में इतस्ततः भ्रमण अर्थ प्रमुख हैं। प्रकृत में प्रव्रज्या का अर्थ प्रधान रूप से ऐसी दीक्षा को ग्रहण किया गया है जिसमें सर्वविध परिग्रह न हो (पव्वज्जा सव्वसंगपरिचत्ता, बो. 25)।

प्रव्रज्या का स्वरूप

''वैराग्य की उत्तम भूमिका को प्राप्त होकर मुमुक्षु व्यक्ति अपने सब सगे

सम्बन्धियों से क्षमा मांगकर, गुरु की शरण में जा, सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग कर देता है और ज्ञाता दृष्टा रहता हुआ साम्य जीवन बिताने की प्रतिज्ञा करता है। इसे ही प्रव्रज्या या जिनदीक्षा कहते हैं (जै. सि. को. भाग.3, पृ. 149)।" बोधपाहुड में कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रव्रज्या के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है कि जो धन-धान्य एवं वस्त्र के दान, सोना-चाँदी, शय्या-आसन एवं छत्र आदि के कुदान से रहित है। जो शत्रु-मित्र, प्रशंसा-निन्दा, हानि-लाभ, तृण-सुवर्ण में साम्यभाव रखता है, उत्तम-मध्यम गृह तथा दरिद्र धनी में भेद न करता हुआ सर्वत्र आहार ग्रहण करता है। जो परिग्रह रहित, नि:संग (स्त्री आदि के संसर्ग से रहित) मान कषाय एवं भोगपरिभोग की आशा से रहित, राग-द्वेष, ममत्व एवं अहंकार से रहित है। जो स्नेह, लोभ, मोह, विकार कालुष्य एवं भय से रहित है। जिसने यथाजात बालक के समान नग्न रूप को धारण किया है, जो शस्त्र रहित, शान्त है तथा परकृत वसतिका में निवास करता है। जो उपशम, क्षमा तथा दम से युक्त हैं, शरीर के संस्कार से वर्जित हैं, रूक्ष हैं, मद राग एवं द्वेष से रहित हैं। जिसका मूढ़भाव दूर हो गया है, जिसके आठों कर्म नष्ट हो गये हैं, मिथ्यात्व भाव नष्ट हो गया है तथा जो सम्यग्दर्शन रूप गुण से विशुद्ध है, उसको प्रव्रज्या कही गई है। (गाथा 45-52)

बोधपाहुड में प्रव्रज्या का फलितार्थ

उपर्युक्त वर्णन से फलित होता है कि कुन्दकुन्दाचार्य की दृष्टि में प्रव्रज्या में प्रमुखतया हेयोपादेय या करणीयाकरणीय का विचार आवश्यक है। प्रव्रज्या में जहाँ एक ओर राग-द्वेष, मोह, भय, आशा, लोभ, कालुष्य, भोगपरिभोग, शरीर संस्कार, स्नेह, अहंकार, ममता परिग्रह, पापारंभ, धन्यधान्यादि, स्त्रीसंसर्ग, गृहनिवास विकथा आदि से विरत रहने तथा उनको हेय या अकरणीय मानने का उपदेश देकर साधुओं को सचेत किया गया है वहाँ दूसरी ओर शत्रु-मित्र, प्रशंसा-निन्दा, हानि-लाभ, तृण-सुवर्ण में समता रखकर परकृतवसतिका में निवास की बात कहकर कुन्दकुन्दाचार्य ने यह स्पष्ट किया है कि जिसमें स्वयं को कृत, कारित, अनुमोदना रूप मन, वचन, काय रूप निर्माण का दोष न लगा हो, ऐसे स्थान पर ही साधु को रहना चाहिए। इसी प्रकार आगे कहा गया है कि उपसर्ग एवं परिषहजयी मुनिराज निरन्तर निर्जन वन में शिला, काष्ठ या

भूमितल पर बैठते हैं (गाथा 55)। आहारादि के प्रति साम्यभाव रखकर आहार के प्रसंग में उत्तम-मध्यम गृह एवं दरिद्र-धनी में भेद न करके परिषहसहन एवं कषायजय में रत रहने को सावधान किया गया है। उन्हें बालकवत् नग्न रूप को धारण कर शान्त, शस्त्रास्त्रहीन, उपशम, क्षमा, दम में निरत रहते हुए संयम, सम्यक्त्व एवं मूलगुणों तथा तप, व्रत एवं उत्तरगुणों के परिपालन का आदेश दिया गया है। (देखें जै. सि.को-3, पृ. 527)

प्रव्रज्या के योग्यायोग्य स्थान

बोधपाहुड में दीक्षा के योग्य तथा दीक्षासहित मुनि के ठहरने योग्य स्थानों का विवेचन करते हुए कहा गया है कि सूना घर, वृक्ष का मूल, उद्यान, श्मसान भूमि, पर्वत की गुफा, पर्वत की चोटी, भयानक वन और वसति ये दीक्षायोग्य स्थान हैं तथा दीक्षासहित मुनि के ठहरने योग्य स्थान हैं (गाथा 41)। इसी प्रकार मूलाचार में भी कहा गया है-

> **गिरिकन्दरं मसाणं सुण्णागारं च रुक्खमूलं वा।**
> **ठाणं विरागबहुलं धीरो भिक्खु णिसेवेऊ॥ मूलाचार** 10/59

अर्थात् गिरिकन्दराओं, श्मसान भूमि, शून्यागार, वृक्षमूल आदि वैराग्यवर्धक स्थानों पर श्रमण ठहरते हैं। इन विविक्त निकायों में ठहरने में हेतु का निर्देश करते हुए भगवती आराधना में कहा गया है कि चूंकि कलह, व्यग्रता बढ़ाने वाले शब्द, संक्लेश भाव, मन की व्यग्रता, असंयत जनों का संसर्ग, स्वपर का भाव, ध्यान एवं अध्ययन में विघ्न आदि दोषों का सद्भाव इन विविक्त स्थानों में नही होता है, अतः ये श्रमण के ठहरने योग्य स्थान हैं। (भगवती आराधना 232)।

ठहरने के अयोग्य स्थानों का मूलाचार में विस्तार से वर्णन हुआ है। जिन स्थानों में कषाय की उत्पत्ति, आदर का अभाव, इन्द्रियविषयों की अधिकता, स्त्रियों का बाहुल्य, दुःखों एवं उपसर्गों का बाहुल्य हो, वहाँ मुनि को नहीं ठहरना चाहिए। गायआदि तिर्यंचनी, कुशील स्त्री, सविकारिणी व्यन्तर आदि देवियाँ, असंयमी गृहस्थ के निवासों पर साधु को कदापि नही ठहरना चाहिए। अराजक या दुष्टराजक स्थान, जहाँ कोई प्रव्रज्या न लेता हो तथा जहाँ

संयमघात की संभावना रहती हो, वहाँ मुनि को नही ठहरना चाहिए। इन स्थानों का परित्याग कर देना चाहिए। (मूलाचार 10/58-60)

प्रव्रज्या की योग्यता/अयोग्यता

प्रव्रज्या किसके होती है? इस सम्बन्ध में सामान्य कथन करते हुए बोधपाहुड (गाथा 54) में कहा गया है कि जिनमार्ग में प्रव्रज्या वज्रवृषभनाराच आदि छहों संहननों में कही गई है। भक्तजन इस प्रव्रज्या को कर्मक्षय का कारण मानकर धारण करते हैं। महापुराण 39/158 में दीक्षायोग्य पुरुष का कथन करते हुए कहा गया है-

'विशुद्धकुलगोत्रस्य सद्वृत्तस्य वपुष्मतः।
दीक्षायोग्यत्वमाम्नातं सुमुखस्य सुमेधसः॥'

अर्थात् जिसका कुल विशुद्ध है, चरित्र उत्तम है, मुख सुन्दर है और आकृति अच्छी है, ऐसा पुरुष दीक्षा ग्रहण करने योग्य माना गया है। जयसेनाचार्य ने प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति टीका में कहा है ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य इन तीन वर्णों में से किसी एक वर्ण का नीरोग, तप में समर्थ, अति बालत्व एवं वृद्धत्व से रहित, योग्य आयु का, सुन्दर, दुराचारादि से रहित पुरुष ही जिनलिंग को ग्रहण करने के योग्य होता है। लब्धिसार की टीका में कहा गया है कि जो पुरुष दिग्विजय के काल में चक्रवर्ती के साथ आर्यखण्ड में आते हैं और चक्रवर्ती आदि के साथ उनका वैवाहिक सम्बन्ध पाया जाता है, उनके संयम ग्रहण के प्रति विरोध का अभाव है। अथवा जो म्लेच्छ कन्यायें चक्रवर्ती आदि के साथ विवाही गई हैं, उन कन्याओं के गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न होते हैं, उनके दीक्षा ग्रहण संभव है। (ल. स./जी. प्र./185/249/19) स्पष्ट होता है कि शूद्र भी कथंचित् दीक्षा योग्य हैं। किन्तु यहाँ यह विशेष है कि सत् शूद्र ही यथायोग्य (क्षुल्लक) दीक्षा के योग्य होते हैं। प्रायश्चित्त चूलिका 154 में स्पष्टतया कहा गया है कि- 'भोज्येष्वेव प्रदातव्यं सर्वदा क्षुल्लक-व्रतम्।'

''वण्णेसु तीसु एक्को कल्याणंगो तवोसहो वयसा।
सुमुहो कुंछारहिदो लिंगग्गहणे हवदि जग्गो॥''

इसकी टीका में भी कहा है- 'भोज्येष्वेव प्रदातव्या क्षुल्लक दीक्षा नापरेषु।' अर्थात् शूद्रों में केवल भोज्य या स्पृश्य शूद्रों को ही क्षुल्लक दीक्षा दी जानी चाहिए, अन्यों को नही।

बोधपाहुड (49) की श्रुतसागरी टीका में दीक्षा के अयोग्य व्यक्ति का कथन करते हुए कहा गया है कि 'कुरूपिणो हीनाधिकस्याङ्गस्य कुष्ठादिरोगिणश्च प्रव्रज्या न भवति' अर्थात् कुरूप, हीन या अधिक अंग वाले तथा कुष्ठादि रोगों वाले व्यक्ति की दीक्षा नही होती है। दो हाँथ, दो पैर, नितम्ब, पीठ, वक्षस्थल और मस्तक ये आठ अंग माने गये हैं। मूर्धा, कपाल, ललाट, शंख, भौंह, कान, नाक, आंख, अक्षिकूट, हनू, कपोल, ओष्ठ, अधर, चाप, तालु, जीभ आदि उपांग है। भगवती आराधना की विजयोदया टीका में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि यदि पुरुष लिंग में दोष न हो तो वह औत्सर्गिक लिंग (दिगम्बर दीक्षा) धारण कर सकता है। गृहस्थ के पुरुष लिंग में चर्म न होना, अधिक दीर्घता एवं बारम्बार चेतन होकर ऊपर उठना दोष हों तो वह दीक्षा धारण करने योग्य नही है। उसी तरह यदि अण्ड अतिशय लम्बे हों तो भी गृहस्थ दिगम्बरत्व के अयोग्य है।

दीक्षायोग्य काल

समवसरण में भरतचक्रवर्ती के स्वप्नों का फल बताते हुए भगवान् ऋषभदेव ने कहा है कि ऊँचे स्वर से शब्द करते हुए तरुण बैल का विहार देखने से सूचित होता है कि लोग तरुण अवस्था में ही मुनिपद में ठहर सकेंगे अन्य अवस्था में नही।

तरुणस्य वृषस्योच्चैः नदतो विहृतीक्षणात्।
तारुण्य एव श्रामण्ये स्थास्यन्ति न दशान्तरे। -महापुराण 41/75

यहाँ यह स्पष्ट है कि तारुण्य का अभिप्राय 25 से 50 वर्ष की अवस्था से है, न कि वर्तमान में 16-17 वर्ष में दीक्षित हो रहे किशोर साधुओं से।

कुछ लोग कहते हैं कि पंचम काल में दिगम्बर दीक्षा धारण नही करना चाहिए। यह कथन भी आगम की आज्ञा के सर्वथा प्रतिकूल है। पंचमकाल में

भी दीक्षा होती है। नियमसार (143) की तात्पर्यवृत्ति टीका में कहा गया है कि कलिकाल में भी कहीं कोई भाग्यशाली जीव मिथ्यात्वादि रूप मल कीचड़ से रहित सद्धर्मरक्षाकारी मुनि होता है। जिमने परिग्रहविस्तार को त्यागा है और पाप रूपी अटवी को जलाने वाली अग्नि रूप है, वह देव लोक में देवों से भी भलीभाँति पूजित होता है।

जिनसेनाचार्य ने दीक्षा के अयोग्य काल का निर्देश करते हुए लिखा है-

'ग्रहोपरागग्रहणे परिवेषेन्द्रचापयोः।
वक्रग्रहोदये मेघपटलस्थगितेऽम्बरे॥
नष्टाधिमासदिनयोः संक्रान्तौ हानिमत्तिथौ।
दीक्षाविधिं मुमुक्षूणां नेच्छन्ति कृतबुद्धयः॥ महा. 39/159-60

अर्थात् जिस दिन ग्रहों का उपराग हो, ग्रहण लगा हो, सूर्य चन्द्र पर परिवेष हो, इन्द्रधनुष उठा हो, दुष्ट ग्रहों का उदय हो, आकाश मेघपटल से ढका हुआ हो, नष्टमास या अधिक मास का दिन हो, संक्रान्ति हो अथवा क्षयतिथि का दिन हो उस दिन बुद्धिमान् आचार्य मुमुक्षु भक्तों के लिए दीक्षा की विधि नही करते हैं। अर्थात् ऐसी स्थिति में शिष्य को नवीन दीक्षा नही दी जाती है।

दीक्षागुरु

गुरु शब्द का अर्थ बड़ा है। लोक में शिक्षकों को गुरु कहा जाता है। माता-पिता को भी गुरु कहा जाता है। किन्तु धार्मिक प्रकरण में अर्हन्त भगवान् को परमगुरु कहा गया है, वे त्रिलोक गुरु है। फिर आचार्य, उपाध्याय एवं साधु को गुरु माना गया है। व्रत धारण करने में गुरु की महत्ता सर्वत्र स्वीकृत है।

दीक्षागुरु का लक्षण करते हुए कहा गया है कि 'यो काले प्रव्रज्या-दायकः स एव दीक्षागुरुः।' (प्रवचन सा. 290 की टीका ता. वृ.) अर्थात् लिंग धारण करते समय जो शिष्य को प्रव्रज्या देते हैं, वे आचार्य दीक्षा गुरु हैं। दीक्षा गुरु को ज्ञानी और वीतरागी होना चाहिए। भगवती आराधना (479-483) में कहा गया है कि- "जो जिसका हित चाहता है, वह उसको हित के कार्य में बलात् प्रवृत्त करता है। जैसे हित चाहने वाली माता अपने रोते हुए भी बालक का

मुख फाड़कर उसे घी पिलाती है। उसी प्रकार आचार्य भी मायाचार धारण करने वाले क्षपक को जबर्दस्ती दोषों की आलोचना करने में बाध्य करते हैं। तब वह दोष कहता है, जिससे कि उसका कल्याण होता है। जिस प्रकार कि कड़वी औषधि पीने से रोगी का कल्याण होता है। लातों से शिष्यों को ताड़ते हुए भी जो शिष्य को दोषों से अलिप्त रखता है, वही गुरु हितकारी समझना चाहिए। जो पुरुष आत्महित के साथ-साथ कठोर शब्द बोलकर परहित भी साधते हैं, वे जगत् में अतिशय दुर्लभ समझने चाहिए।''

भगवती आराधना (488) में यह भी कहा गया है कि यत: आचार्य पर विश्वास करके ही शिष्य अपने दोष उनसे कहता हे अत: गुरु को चाहिए कि वह दोषों को अन्य के समक्ष प्रकट न करे। यदि आचार्य शिष्य के दोषों को अन्य से कहता है तो उसे जिनधर्मबाह्य कहा गया है।

प्रव्रज्या धारण करने का प्रयोजन

प्रव्रज्या धारण करने का मूल प्रयोजन कर्मक्षय है। कर्मक्षय सम्पूर्ण परिग्रह त्याग के बिना संभव नही है। अत: इसमें सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग आवश्यक माना गया है। निर्जन में वास भी इसीलिए आवश्यक माना गया है ताकि कर्मबन्ध के हेतु विकथाओं से तथा पशु, स्त्री, नपुंसक एवं कुशील मनुष्यों के सम्पर्क से बचा जा सके। बोधपाहुड (53-56) में कहा गया है कि प्रव्रज्या कर्मक्षय का कारण है। इसमें तिलतुष मात्र भी बाह्य परिग्रह का संग्रह नही है। उपसर्ग विजेता एवं परिषह जयी मुनिवर निर्जन स्थान में शिला, काष्ठ या भूमितल पर बैठते हैं। इसमें पशु, स्त्री, नपुंसक, कुशील मनुष्यों का संग नही किया जाता है एवं विकथायें नही की जाती हैं तथा सदा स्वाध्याय एवं ध्यान में लीन रहा जाता है।

शुभचन्द्राचार्य ने ज्ञानार्णव में प्रव्रज्या धारण करने का कारण बताते हुए कहा है कि गृहस्थजन घर में रहते हुए अपने चपल मन को वश में करने में समर्थ नही होते हैं अतएव चित्त की शान्ति के लिए सत्पुरुषों ने घर में रहना छोड़ दिया है और वे एकान्त में रहकर ध्यानस्थ होने को उद्यमी हुए हैं। निरन्तर पीड़ा रूपी आर्तध्यान की अग्नि के दाह से दुर्गम, वसने के अयोग्य

तथा काम क्रोधादि की कुवासना रूपी अंधकार से विलुप्त नेत्रों की दृष्टिवाले घरों में अनेक चिन्ता रूपी ज्वर से, विकार रूप मनुष्यों के अपनी आत्मा का हित कदापि सिद्ध नही हो सकता है। (ज्ञानार्णव 4/10, 12)

अतएव प्रव्रज्या धारण करना कर्मक्षय एवं आत्मकल्याण हेतु आवश्यक है।

क्या दीक्षा आवश्यक है

प्रायः लोग भरत चक्रवर्ती का दृष्टान्त देकर यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि दिगम्बर मुद्रा धारण करने की अपेक्षा भरत चक्रवर्ती की तरह घर में विरागी रहा जा सकता है। उन्हें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि यदि प्रव्रज्या अनिवार्य न होती तो भरत चक्रवर्ती भी घर में रहते हुए ही मोक्ष प्राप्त कर लेते, परन्तु उन्हें भी प्रव्रज्या धारण करनी ही पड़ी। एतावता यह सुनिश्चित है कि कर्म मुक्ति के लिए प्रव्रज्या धारण करना अत्यन्त अनिवार्य है।

दीक्षाविधि

प्रव्रज्या विधि का विवेचन करते हुए महापुराण में कहा गया है कि-

> **'सिद्धार्चनां पुरस्कृत्य सर्वानाहूय सम्मतान्।**
> **तत्साक्षि सूनवे सर्वं निवेद्यातो गृहं त्यजेत्॥** -महा. 38/151

अर्थात् सर्वप्रथम सिद्ध भगवान् की पूजा करके सभी इष्ट लोगों को बुलाकर उनकी साक्षी पूर्वक पुत्र के लिए सब सौंपकर गृहत्याग करना चाहिए। प्रवचनसार में कुन्दकुन्दाचार्य भी लिखते हैं-

> **'आपिच्छ बंधुवग्गं विमोचिदो गुरुकलत्तपुत्तेहिं।**
> **आसिज्ज णाणदंसणचरित्ततववीरियायारं॥'** 202

अर्थात् बन्धुवर्ग से विदा मांगकर गुरूजनों, पत्नी तथा पुत्र से मुक्त होकर ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चरित्राचार, तप आचार एवं वीर्याचार को अंगीकार करे। किन्तु प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति (202) की टीका में जयसेनाचार्य बन्धुवर्ग से विदा लेने के नियम को आवश्यक नही मानते हैं। उनका कहना है कि यदि घर में कोई मिथ्यादृष्टि होता है तो वह उपसर्ग करता है। अथवा यदि कोई

ऐसा मानता है कि मैं बन्धुवर्ग को मनाकर पश्चात् तपस्या करूँ तो उसके प्रचुर रूप से तपस्या नही हो पाती है। और यदि जैसे तैसे तपस्या हो भी जाती है, परन्तु वह कुल का मद करता है तो वह तपोधनी नही बन पाता है। इसी की टीका में पं. हेमराज ने भी ऐसे ही भाव प्रकट किये हैं कि यहाँ पर ऐसा मत समझना कि विरक्त होवे तो कुटुम्ब को राजी करके ही होवे। कुटुम्ब यदि किसी तरह राजी ने होवे तब कुटुम्ब के भरोसे रहने से विरक्त कभी होय नही सकता। इस कारण कुटुम्ब से पूछने का नियम नही है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सामान्यत: कुटुम्ब से विदा लेकर ही दीक्षा ग्रहण करना चाहिए। परन्तु यदि कुटुम्ब में कोई मिथ्यादृष्टि दीक्षा ग्रहण करने से रोके और माने नही तो ऐसी स्थिति में आत्मकल्याण के लिए दीक्षा ग्रहण कर लेना चाहिए। क्योंकि ऐसी परिस्थितियों में कुटुम्ब से आज्ञा लेने का कोई नियम नही है। दीक्षार्थी द्वारा सर्वप्रथम सिद्धों की अर्चना का विधान इसलिए किया गया है, कि अर्हन्त भी दीक्षा के समय सिद्धों को नमस्कार करते हैं। क्योंकि अर्हन्त भगवान् में सिद्धों की अपेक्षा कम गुण हैं।

दीक्षान्वय की क्रियायें

व्रत को धारण करने के सम्मुख व्यक्ति विशेष की प्रवृत्ति से सम्बन्ध रखने वाली क्रियाओं को दीक्षान्वय की क्रियायें कहा जाता है। इन क्रियाओं की संख्या महापुराण के अनुसार अवतार से लेकर परनिर्वृत्ति क्रिया तक 48 है। मिथ्यात्व से दूषित कोई भव्य समीचीन मार्ग को ग्रहण करने के सम्मुख हो किन्ही मुनिराज अथवा गृहस्थाचार्य के पास जाकर यथार्थ देव-शास्त्र-गुरु व धर्म के सम्बन्ध में योग्य उपदेश प्राप्त करके मिथ्या मार्ग से प्रेम हटाता है और समीचीन मार्ग में बुद्धि लगाता है। गुरु ही उस समय पिता है और तत्त्वज्ञान रूप संस्कार ही गर्भ है। यहीं यह भव्य प्राणी अवतार धारण करता है। इसी प्रकार आगे की क्रियाओं का विवेचन हुआ है। सभी क्रियाओं के लिए पृथक्-पृथक् मन्त्रों का विधान है। अन्त में परनिर्वृत्ति क्रिया विमुक्त सिद्ध पद की प्राप्ति रूप है।

अनियतविहार

श्रमण की विहारचर्या में अनियतविहार को आवश्यक माना गया है। मूलाचारवृत्ति (8/3) में कहा गया है कि रत्नत्रय की विशुद्धि के लिए समान रूप से सभी स्थानों पर भ्रमण करते रहना विहारचर्या है। 9/31 मूलाचार में कहा गया है कि अपरिग्रही मुनि को बिना किसी अपेक्षा के हवा की भांति लघुभूत होकर मुक्तभाव से ग्राम, नगर, वन आदि से युक्त पृथ्वी पर समान रूप से विचरण करते रहना चाहिए।

भगवती आराधना (148) में अनियतविहार के गुणों का वर्णन करते हुए कहा है कि अनेक देशों में विहार करने से क्षुधाभावना, चर्या भावना आदि का पालन होता है। अन्यान्य देशों में मुनियों के भिन्न-भिन्न आचारों का ज्ञान होता है तथा विविधभाषाओं में जीवादि पदार्थो के प्रतिपादन का चातुर्य प्राप्त होता है। अनियतविहारी मुनि चारित्र के धारक होते हैं। उन्हें देखकर अन्य मुनि भी चारित्र एवं योग के धारक तथा सम्यक् लेश्या वाले बनते हैं। इस प्रकार अनियतविहार के अनेक लाभों के चर्चा श्रमणाचार विषयक ग्रन्थों में की गई है।

एकाकीविहार निषेध

मूलाचार (4/150) में एकाकीविहार का निषेध करते हुए कहा गया है कि "गमन, आगमन, शयन, आसन, वस्तुग्रहण, आहारग्रहण, भाषण, मलमूत्रादि विसर्जन इन कार्यो में स्वच्छन्द प्रवृत्ति करने वाला कोई भी श्रमण मेरा शत्रु भी हो तो भी एकाकी विहार न करे।"

अपनी कमजोरियों को छिपाने के लिए जो मुनि स्वच्छन्द होकर एकाकी विहार में प्रवृत्त होता है, वह दोष प्रकट होने के भय से संघ में अन्य-श्रमणों के साथ रहने से डरता हे। भगवती आराधना में ऐसे श्रमणों को यथाछन्द नामक पापश्रमण कहा है। (द्रष्टव्य भ. आराधना, गाथा 1310-1312)

एकलविहार की अनुमति भी, पर इस पंचम काल में नही

जो मुनि बहुकाल से दीक्षित है, ज्ञान संहनन और भावना से बलवान् है,

वह एकल विहारी हो सकता है। (आचारसार 27)। मूलाचार वृत्ति (4/149) में कहा गया है कि जो तपों की आराधना करते हैं, 14 पूर्वो के ज्ञाता हैं, काल क्षेत्र के अनुकूल आगम के जानकर हैं तथा प्रायश्चित्तशास्त्र (सूत्र) के ज्ञाता हैं। किसी उत्तम संहनन के धारक हैं, क्षुधादि बाधाओं को सहन करने में समर्थ हैं, ऐसे श्रमण एकल विहार कर सकते हैं। अन्य साधारण मुनियों को विशेष रूप से हीन संहनन वाले इस पंचम काल में एकाकी विहार का विधान नही है।

वर्षाकाल एवं विशेष परिस्थितियों के अतिरिक्त श्रमण को सदा विहार करते रहने का विधान है तथा एकाकी विहार की घोर निन्दा शास्त्रों में की गई है। एकाकी विहार में अनेक दोषों की संभावना होने से ही उसका निषेध किया गया है।

शीघ्र आचार्य बनना चाहने वाले को पापश्रमण संज्ञा

मूलाचार (10/69) में कहा गया है कि जो पहले शिष्यत्व न करके आचार्यत्त्व धारण करने की जल्दी करता है, ऐसा पूर्वापर विवेकशून्य ढोंढाचार्य मदोन्मत्त हाथी के समान निरंकुश भ्रमण करता है। अपने को आचार्य कहने-कहलवाने वाले आगम ज्ञान से रहित ये पापश्रमण अपना तो विनाश करते ही हैं साथ ही कुत्सित उपदेशादि के द्वारा दूसरों का भी विनाश करते हैं।

यहाँ पर मुख्य रूप से बोधपाहुड के आधार पर एवं जो विषय बोधपाहुड में नही है या स्वल्प हैं, उन पर मूलाचार, भगवती आराधना, ज्ञानार्णव एवं महापुराण आदि के आधार पर प्रव्रज्या विषयक वर्णन संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया गया है। मुझे विश्वास है पूज्य मुनिराज एवं विद्वान् व्यापक रूप से चर्चा के पश्चात् किसी निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं, जिससे शिथिलाचारी साधुओं के द्वारा मलिन होते जा रहे जिनशासन को बचाया जा सकेगा।

-सम्पादक

स्याद्वाद

-डॉ सत्यदेव मिश्र

सत्यान्वेषण भारतीयदर्शन का प्रमुख वैशिष्ट्य है। द्रव्य और पर्याय-सत्य के दो पहलू हैं। सत्य के इस पक्षद्वैविध्य को भारतीय चिंतकों ने विविध रूपों में देखा है। अद्वैत वेदान्त ने द्रव्य को पारमार्थिक सत्य मानकर पर्याय को काल्पनिक कहा है। बौद्धों ने पर्याय को पारमार्थिक बताया है, पर द्रव्य को काल्पनिक माना है। अन्य दार्शनिक इन एकान्तिक मतों का खण्डन-मण्डन करते प्रतीत होते हैं। समन्वयवादी जैन चिंतकों ने सत्य को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त मानकर[1] द्रव्य तथा पर्याय-दोनों की परमार्थ सत्यता का उद्घोष किया है तथा स्वसिद्धान्त को अनेकान्तवाद के नाम से प्रतिष्ठित किया है।

अनेकान्तवाद में 'अन्त' पद का अर्थ है-धर्म, अतः अनेकान्तवाद का शाब्दिक अर्थ है-वस्तु के अनेक या अनन्त धर्मों का कथन। जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु, चाहे वह जीव हो या पुदगल, इन्द्रिय जगत् या आत्मादि, उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्यशील है तथा नित्यता-अनित्यता, एकता-अनेकता, भाव-अभाव जैसे विरुद्ध धर्मों से युक्त है।

जो वस्तु नित्य प्रतीत होती है, वह अनित्य भी है। जो वस्तु क्षणिक दिखाई देती है, वह नित्य भी है। जहाँ नित्यता है, वहाँ अनित्यता भी है। वस्तु में इन द्वन्द्वात्मक विरोधों की मान्यता अनेकान्तवाद है और वस्तु की अनेकान्तात्मकता का कथन स्याद्वाद है।[2] वस्तुतः 'स्याद्वाद अनेकान्तवाद की कथन शैली है जो वस्तु के विचित्र कार्यों को क्रमशः व्यक्त करती है और विविध अपेक्षाओं से उनकी सत्यता भी स्वीकार करती है।[3] अनेकान्तवाद और स्याद्वाद एक दूसरे के पूरक हैं। प्रमेयफलक पर जो अनेकान्तवाद है, वही प्रमाणफलक पर स्याद्वाद है।

स्याद्वाद जैनदर्शन का एक प्राचीन तथा बहुचर्चित सिद्धान्त है। प्राचीनतम जैन ग्रंथों में इसका स्पष्ट संकेत हैं। भगवती सूत्र (1229) में इसके तीन भङ्गों

की चर्चा है। भद्रबाहु ने सूत्रकृताङ्ग. में इसका उल्लेख किया है। कुन्दकुन्दाचार्य ने पञ्चास्तिकाय में तथा समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा में स्याद्वाद के सातभङ्गों का विशद विवेचन किया है। सिद्धसेन दिवाकर, अकलङ्क, विद्यानन्दी प्रभृति जैन नैयायिकों ने इसे सुसम्बद्ध सिद्धान्त का रूप प्रदान किया है।

स्याद्वाद 'स्यात्' और 'वाद'-इन दो पदों से निष्पन्न है। 'स्यात्' पद तिडन्त प्रतिरूपक निपात है जो अनेकान्त, विधि, विचार आदि अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। यहाँ यह 'अनेकान्त' द्योतक है।[4] 'स्यात्' क्वचित्[5] (देश) और कदाचित् (काल) का भी वाचक होता है। संभावना और संशय के अर्थ में भी इसका प्रयोग प्राप्त होता है। स्याद्वाद के संदर्भ में 'स्यात्' पद, संशयार्थक नहीं है। इसका अर्थ है- अनेकान्त; और अनेकान्त अनन्तधर्मात्मक वस्तु का निश्चयात्मक ज्ञान है, अतः 'स्यात्' शब्द भी निश्चितार्थक है।[6] 'स्यात्' के इस अर्थ के साथ संभावना और सापेक्षता भी जुड़े हुए हैं।

'स्यात् पदका प्रयोग किये बिना इष्टधर्म की विधि और अनिष्ट धर्म का निषेध नहीं किया जा सकता, अतः पदार्थ का प्रतिपादन करने वाली प्रत्येक वाक्यपद्धति के साथ 'स्यात्' पद का प्रयोग किया जाता है। यह दो अर्थों को सूचित करता है-

1. विधिशून्य निषेध और निषेधशून्य विधि नहीं हो सकती।

2. अन्वयी धर्म (ध्रौव्य या सामान्य) तथा व्यतिरेकी धर्म (उत्पाद और व्यय या विशेष)-ये दोनों सापेक्ष हैं। ध्रौव्य रहित उत्पाद-व्यय और उत्पाद-व्यय-रहित ध्रौव्य कहीं भी उपलब्ध नहीं हो सकता।

वस्तु का स्वरूप सर्वात्मक नहीं है, अतः स्व-रूप से उसकी विधि और पररूप से उसका निषेध प्राप्त होता है। उत्पाद और व्यय का क्रम निरंतर चलता रहता है, अतः उत्पन्न पर्याय की अपेक्षा से वस्तु की विधि और अनुत्पन्न या विगत पर्याय की अपेक्षा से उसका निषेध प्राप्त होता है। 'स्याद्वाद का सिद्धान्त यह है कि विधि और निषेध वस्तुगत धर्म हैं। हम अग्नि का प्रत्यक्ष करते हैं, इसलिए उसकी विधि का अर्थ होता है कि अमुक देश में अग्नि है। हम धूम के

द्वारा अग्नि का अनुमान करते हैं। तब साधक-हेतु मिलने पर अमुक देश में उसकी विधि और बाधक-हेतु मिलने पर उसका निषेध करते हैं किन्तु स्याद्वाद का विधि-निषेध वस्तु के देश-काल से संबद्ध नहीं है। यह उसके स्वरूप-निर्धारण से संबद्ध है। अग्नि जब कभी और जहां कहीं भी होती है वह अपने स्वरूप से होती है, इसलिये उसकी विधि उसके घटकों पर निर्भर है और उसका निषेध उन तत्वों पर निर्भर है जो उसके घटक नहीं हैं। वस्तु में विधि-पर्याय होता है इसलिये वह अपने स्वरूप में रहती है और निषेध-पर्याय होता है, इसलिये उसका स्वरूप दूसरों से आक्रान्त नहीं होता। यही वस्तु का वस्तुत्व है।[7] इस स्वरूपगत विशेषता की सूचना 'स्यात्' शब्द देता है।[8]

विभज्यवाद[9] भजनावाद[10], स्याद्वाद के नामान्तर हैं। भगवान महावीर ने स्वयं भी अनेक प्रश्नों के उत्तर विभज्यवाद की पद्धति से दिये हैं। जयन्ती ने पूछा-'भंते! सोना अच्छा है या जागना अच्छा है? महावीर ने कहा 'जयन्ती! कुछ जीवों का सोना अच्छा है और कुछ जीवों का जागना अच्छा है।'[11] जयन्ती ने पुन: प्रश्न किया-'भंते! यह कैसे? महावीर का उत्तर था-'जो जीव अधर्मी हैं उनका सोना अच्छा है और जो धर्मी हैं, उनका जागना ही अच्छा है, यह एकांगी उत्तर होता। इसलिये महावीर ने प्रश्न का उत्तर विभाग करके दिया, एकांगी दृष्टि से नहीं दिया।

भजनावाद के अनुसार द्रव्य और गुण के भेद एवं अभेद का एकांगी नियम स्वीकार्य नहीं। उसमें भेद और अभेद दोनों हैं। द्रव्य से गुण अभिन्न हैं, यदि इस नियम को स्वीकृति दी जाये, तो द्रव्य और गुण दो नहीं रहते, एक हो जाते हैं। फिर 'द्रव्य में 'गुण'-इस प्रकार की वाक्य-रचना संभव नहीं। द्रव्य से गुण भिन्न हैं, यदि इस नियम को माना जाये, तो 'यह गुण इस द्रव्य का है'-इस प्रकार की वाक्य-रचना नहीं की जा सकती।

वस्तु स्वभावत: अनेक धर्मात्मक है। जो वस्तु मधुर प्रतीत होती है, वह कटु भी है, जो मृदु प्रतीत होती है, वह कठोर भी है। जो दीपक क्षण-क्षण बुझता और टिमटिमाता दिखाई पड़ता है, उसमें एकांत क्षणिकता ही नहीं, द्रव्यरूप से स्थिरता भी है। 'जो द्वन्द्व (युगल) विरोधी प्रतीत होते हैं, उनमें

परस्पर अविनाभाव संबंध है-इस स्थापना के आधार पर अनेकान्त का सिद्धान्त अनन्त विरोधी युगलों को युगपत रहने की स्वीकृति देता है।'[12] पर इन विरोधी युगलों को एक साथ व्यक्त नहीं किया जा सकता। इनके युगपत् प्रतिपादन के लिये भाषा में क्रमिकता और सापेक्षता चाहिए। यह सापेक्ष कथन या प्रतिपादन शैली स्याद्वाद है, जिसके अस्ति (विधि), नास्ति (निषेध) और अवक्तव्य आदि के भेद से अधोलिखित सात विकल्प हैं :-

1. स्याद् अस्ति एव - किसी अपेक्षा से है ही।
2. स्याद् नास्ति एव - किसी अपेक्षा से नहीं ही है।
3. स्याद् अस्ति एव स्याद् नास्ति एव - किसी अपेक्षा से है ही और किसी अपेक्षा से नहीं ही है।
4. स्याद् अवक्तव्य एव - किसी अपेक्षा से अवक्तव्य ही है।
5. स्याद् अस्ति एव स्याद् अवक्तव्य एव - किसी अपेक्षा से है ही और किसी अपेक्षा से अवक्तव्य ही है।
6. स्याद् नास्ति एवं स्याद् अवक्तव्य एव - किसी अपेक्षा से नहीं ही है और किसी अपेक्षा से अवक्तव्य ही है।
7. स्याद् अस्ति एव स्याद् नास्ति एव स्याद् अवक्तव्य एव - किसी अपेक्षा से है ही, किसी अपेक्षा से नहीं ही है और किसी अपेक्षा से अवक्तव्य ही है।

ये वचन विकल्प सप्तभंगी के नाम से प्रसिद्ध है।[13] इनमें प्रथम चार मूल अंग है और अंतिम तीन इन्हीं के विस्तार हैं। मूल अंगों के स्पष्टीकरण के लिये एक व्यावहारिक उदाहरण प्रस्तुत है-

तीन व्यक्ति एक स्थान पर खड़े हैं। किसी आगन्तुक ने पूछा- 'क्या आप इनके पिता हैं? उसने उत्तर दिया-'हाँ (स्यादस्मि)-अपने इस पुत्र की अपेक्षा से मैं पिता हूँ किन्तु इन पिताजी की अपेक्षा से मैं पिता नहीं हूँ (स्यादस्मि-नास्मि), किन्तु एक साथ दोनों बातें नहीं कही जा सकतीं (स्यादवक्तव्य:) इसीलिये क्या कहूँ?'

स्याद्वाद का एक शास्त्रीय उदाहरण है-घट, जिसका स्वरूप-नियमन जैन दार्शनिक सप्तभंगी के माध्यम से इस प्रकार है-

स्याद् अस्ति एव घटः - कथंचिद् घट है ही।

स्याद् नास्ति एव घटः - कथंचिद् घट नहीं ही है।

स्याद् अस्ति एव घटः स्यान्नास्ति एव घटः - कथंचित् घट है ही और कथंचिद् घट नहीं ही है।

स्यादवक्तव्य एव घटः - कथंचिद् घट अवक्तव्य ही है

स्याद् अस्ति एव घटः स्याद् अवक्तव्य एव घटः - कथंचिद् घट है ही और कथंचित घट अवक्तव्य ही है।

स्यान्नास्ति एव घटः स्यादवक्तव्य एव घटः - कथंचिद् घट नहीं ही है और कथंचिद् घट अवक्तव्य ही है।

स्याद् अस्ति एव घटः स्यान्नास्ति एव घट स्यादवक्तव्य एव घटः - कथंचिद् घट है कथंचिद् घट नहीं ही है और कथंचिद् घट अवक्तव्य ही है।

'स्याद् अस्ति एव घटः' कथंचिद् घट है ही। इस वाक्य में 'घट' विशेष्य और 'अस्ति' विशेषण है, 'एवकार' विशेषण से युक्त होकर घट के अस्तित्व धर्म का अवधारण करता है। यदि इस वाक्य में 'स्यात्' का प्रयोग नहीं होता तो 'अस्तित्व-एकान्तवाद' का प्रसंग आ जाता, जो इष्ट नहीं है। क्योंकि घट में केवल अस्तित्व धर्म नहीं है, उसके अतिरिक्त अन्य धर्म भी उसमें है। 'स्यात्' शब्द का प्रयोग इस आपत्ति को निरस्त कर देता है। 'एवकार' के द्वारा सीमित अर्थ को वह व्यापक बना देता है। विवक्षित धर्म का असंदिग्ध प्रतिपादन और अविवक्षित अनेक धर्म का असंदिग्ध प्रतिपादन और अविवक्षित अनेक धर्मों का संग्रहण-इन दोनों की निष्पत्ति के लिये 'स्यात्कार' और 'एवकार' का समन्वित प्रयोग किया जाता है।[14]

सप्तभंगी के प्रथम अंग में विधि की और दूसरे में निषेध की कल्पना है। प्रथमअंग में विधि प्रधान है और दूसरे में निषेध। वस्तु स्वरूप शून्य नहीं है

इसलिये विधि की प्रधानता से उसका प्रतिपादन किया जाता है और वह सर्वात्मक नहीं है, अतः निषेध की प्रधानता से उसका प्रतिपादन किया जाता है। जैसे विधि वस्तु का धर्म है वैसे ही निषेध भी वस्तु का धर्म है। स्व-द्रव्य की अपेक्षा से घट का अस्तित्व है। यह विधि है। पर प्रत्यय भी है। यह निषेध है। इसका अर्थ यह हुआ कि निषेध आपेक्षिक पर्याय है-दूसरे के निमित्त से होने वाली पर्याय है। किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। निषेध की शक्ति द्रव्य में निहित है। द्रव्य यदि अस्तित्वधर्मी हो और नास्तित्वधर्मी न हो तो वह अपने द्रव्यत्व को बनाए नहीं रख सकता। निषेध 'पर' की अपेक्षा से व्यवहृत होता है, इसलिये उसे आपेक्षिक या पर-निमित्तक पर्याय कहते हैं। वह वस्तु के सुरक्षा-कवच का काम करता है; एक के अस्तित्व में दूसरे को मिश्रित नहीं होने देता। 'स्व-द्रव्य की अपेक्षा से घट है' और 'पर द्रव्य की अपेक्षा से घट नहीं है'-ये दोनों विकल्प इस सच्चाई को प्रकट करते हैं कि घट सापेक्ष है। वह सापेक्ष है इसलिये यह नहीं कहा जा सकता है कि जिस क्षण में उसका अस्तित्व है उस क्षण में उसका नास्तित्व नहीं है। अस्तित्व और नास्तित्व (विधि ओर निषेध)-दोनों युगपत् हैं। किन्तु एक क्षण में एक साथ दोनों का प्रतिपादन कर सके-ऐसा कोई शब्द नहीं है। इसलिये युगपत् दोनों धर्मों का बोध कराने के लिये अवक्तव्य अंग का प्रयोग होता है। इसका तात्पर्य यह है कि दोनों धर्म एक साथ हैं, किन्तु उनका कथन नहीं किया जा सकता है।[15]

उक्त विवेचन का सार यह है कि स्याद्वाद के अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य आदि अंग;घटवस्तु के द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा पर्याय पर निर्भर करते हैं। घट जिस द्रव्य से निर्मित है, जिस क्षेत्र, काल और पर्याय में है, उस द्रव्य, क्षेत्र, काल और पर्याय की दृष्टि से अन्य-काल और अन्य-पर्याय की अपेक्षा से उसका नास्तित्व है। इस प्रकार घट में अस्तित्व-नास्तित्व दोनों हैं, और इन युगल धर्मों को एक साथ नहीं कहा जा सकता अतः वह (घट) अवक्तव्य भी है।

अस्ति, नास्ति तथा अवक्तव्य - ये तीन मूल अंग हैं। शेष चार अंग इन्हीं अंगों के योग-अयोग से निष्पन्न होते हैं।[16] अतः उनका विवेचन मेरी दृष्टि में कथंचित् अनावश्यक है। सप्तभंगों से घटादि वस्तु के समग्र भावाभावात्मक,

सामान्य-विशेषात्मक नित्यानित्यात्मक और वाच्यावाच्यात्मक धर्मों का युगपत् कथन संभव है।

विवेचित उदाहरणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि स्याद्वाद का महत्व जितना दर्शन की गंभीर पहेलियों को सुलझाने में है, उतना ही जीवन की जटिल समस्याओं का निराकरण करने में भी है। यह अनुभवगम्य तथा सापेक्षसिद्ध होने के कारण व्यावहारिक जगत् की भाषा है, तथापि साम्प्रदायिक आग्रह के कारण कतिपय दार्शनिकों ने इसकी कटु आलोचना की है। शान्तरक्षित ने सप्तभंगीनय को उन्मत्त व्यक्ति का प्रलाप कहा है क्योंकि यह सत्व-असत्व, अस्तित्व-नास्तित्व, एक-अनेक, भेद-अभेद तथा सामान्य-विशेष जैसे विरोधी धर्मों को एकत्र समेटने का उपक्रम करता है।[17] शंकराचार्य ने स्याद्वाद को संशयवाद का पर्याय मान लिया है तथा इसके खण्डन में यह कहा है कि एक वस्तु में शीत व उष्ण के समान विरोधी धर्म युगपत् नहीं रह सकते। वस्तु को विरोधी धर्मों से युक्त मानकर स्वर्ग और मोक्ष में भी विकल्पतः भाव-अभाव और नित्यता-अनित्यता की प्रसक्ति होगी। स्वर्गादि के वास्तविक स्वरूप की अवधारणा के अभाव में किसी की इनमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार विश्वसनीयता एवं अविश्वसनीयता के विकल्पों से व्याहत आर्हतमत भी अग्राह्य होगा।[18] रामानुजाचार्य के अनुसार भी स्याद्वाद अयौक्तिक है क्योंकि छाया तथा आतप के समान विरुद्ध अस्तित्व तथा नास्तित्वादि धर्मो का युगपद् होना असंभव है।[19] तात्विक दृष्टि से विचार करने पर ये आलोचनायें असंगत सिद्ध होती हैं।[20] स्याद्वाद वस्तु को एक ही अपेक्षा से शीत-उष्ण नहीं कहता। जल शीतल है, इसका अर्थ यह है कि वह गरम दूध या चाय की अपेक्षा शीतल है। जल उष्ण है, इसका अर्थ है कि वह बरफ की अपेक्षा गरम है। यह नहीं कि जल में शीतलता और उष्णता एक साथ विद्यमान हैं। वस्तुतः जल अन्य वस्तु की अपेक्षा से शीतल और उष्ण है। इस अपेक्षा भेद को न समझने के कारण ही शांतरक्षित आदि ने स्याद्वाद का विरोध किया है। मल्लिषेण ने इन आलोचनाओं का उत्तर देते हुए कहा है कि वस्तु के सत्व का अभिधान उस (वस्तु) के रूप-द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव की अपेक्षा से होता है, और उसके असत्त्व का अभिधान अन्य (वस्तु) के

रूप-द्रव्य-क्षेत्र-काल एवं भाव की अपेक्षा से किया जाता है, अतः विरोध का अवकाश कहाँ है?[21]

'स्यात्' का अर्थ, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, न 'शायद' है, न 'संभवतः है, और न 'कदाचित् है। स्याद्वाद के संदर्भ में यह 'कथंचित् या 'किसी अपेक्षा' का वाचक है। इसलिये 'स्याद्वाद' को संशयवाद कहना भ्रामक है। जहाँ संशय होता है, वहाँ परस्पर विरोधी अनेक धर्मो का युगपत् शंकात्मक ज्ञान होता है, क्योंकि संशय साधक और बाधक प्रमाण का अभाव होने से अनिश्चित अनेक अंशों का स्पर्श करता है और अनिर्णयात्मक स्थिति में रहता है। स्याद्वाद में यह नहीं होता। यहाँ परस्पर विरुद्ध सापेक्ष, धर्मों का निश्चित ज्ञान होता है। वह अपेक्षाओं के बीच अस्थिर न रहकर निश्चित प्रणाली के अनुसार वस्तु का बोध करता है।[22] स्याद्वाद में निश्चय है, अतः इसे अनिश्चयात्मक संशयवाद मानना सर्वथा अनुचित है। शंकराचार्य के द्वारा स्याद्वाद की आलोचना और भी अशोभनीय लगती है क्योंकि उन्होंने स्वयं भी परमार्थ तथा व्यवहार की अपेक्षा से नाम रूपात्मक जगत् के मिथ्यात्व और सत्यत्व का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है तथा उनके अनिर्वचनीयतावाद पर स्याद्वाद के प्रमुख अंगों का प्रभाव परिलक्षित होता है।

विद्वानों ने स्याद्वाद की तुलना भर्तृप्रपश्च, नागार्जुन, हीगेल, काण्ट, ब्रैडले, स्पेन्सर, हेरेक्लाइप्स, ह्वाइटहेड प्रभृति दार्शनिकों के विचारों से कही है।[23] पर यह एक अन्य लेख का विषय है, अतः इसकी चर्चा यहाँ उचित नहीं है।

वैज्ञानिक सापेक्षवाद के संदर्भ में स्याद्वाद का अध्ययन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वैज्ञानिकों ने इस बात को स्वीकार किया है कि हम वस्तु के स्वरूप को एकान्तदृष्टि से नहीं, अपितु अनेकान्तदृष्टि से ही जान सकते हैं और विश्लेषण कर सकते हैं। विज्ञान की प्रयोगशाला में यह तथ्य सामने आया है कि वस्तु में अनेक धर्म और गुण भरे हुए हैं। प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्सटाईन आदि ने विश्व में व्याप्त सापेक्षता के सिद्धान्त की खोज द्वारा एक छोटे-से परमाणु तक में अनंत शक्ति और गुणों का होना सिद्ध कर दिया है।[24] प्रोफेसर पी. सी. महाजनबीस ने स्याद्वाद की सप्तभंगी को सांख्यिकी (Statistics) सिद्धान्त के

आधार पर प्रस्तुत किया है।[25]

प्रस्तुत अध्ययन का निष्कर्ष यह है कि स्याद्वाद वस्तु-धर्म विश्लेषण का व्यावहारिक तथा वैज्ञानिक सिद्धान्त है, और अपनी इन विशेषताओं के कारण ही यह उत्कृष्ट एवं लोकप्रिय भारतीय चिंतन का प्रतिनिधित्व करता है।

---

1 उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् (तत्त्वार्थ, 5, 29)
2. अनेकान्तात्मकार्थं कथन स्याद्वाद: (आचार्य अकलङ्क; लघीयस्त्रय, 62)
3 मधुकर मुनि, अनेकान्तदर्शन, पृ 20
4 स च लिङन्त (तिङन्त) प्रतिरूपको निपात:। तस्यानेकान्तविधिचारादिषु, बहुएत्रर्थेषु सभवत्स, इह विवक्षावशात् अनेकान्तार्थो गृह्यते। (तत्वार्थवार्तिक, 4, 42)
5 सियासद्दो णिवायन्तादो जदि वि अणेगेस, अत्थेस, वट्टदे, तो वि एत्थ कत्थ वि काले देसेत्ति एदेसु अत्थेसु, बट्टमाणो धन्तव्वो। (कसायपाहुड, भाग 9, पृष्ठ 360)
6 स्याद्वादो निश्चितार्थस्य अपेक्षित याथातथ्य वस्तुवादित्वाद। (तत्वार्थ वार्तिक 19)
7 स्वपरात्मोपादानापोहन व्यवस्थापाद्य हि वस्तुनो वस्तुत्वम् (तत्त्वार्थवार्तिक, 1 6)
8 मुनिनथमल, जैन न्याय का विकास, पृ 67
9 सूयगडो, 1 14.22
10 कसायपाहुड, भाग 1, पृष्ठ 281
11 भगवई 12, 43, 54
12 मुनि नथमल, जैन न्याय का विकास, पृ 68
13 सप्तभि: प्रकारैर्वचनविन्यास: सप्तभगी (स्याद्वाद-मञ्जरी)
14 मुनि नथमल, जैन न्याय का विकास, पृ 70
15 वही, पृष्ठ 70-71
16 यशोविजय, जैनतर्कभाषा, 19-20
17 तत्त्वसग्रह, 311-326
18 ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य, 2 2 33
19 एकस्मिनवस्तुनि अस्तित्वानस्तित्वादेर्विरूद्धस्यच्छायातपवद्युगपदसभवात् (शारीरकभाष्य, 2 2 39)
20 S Radhakrishnan, Indian Philosophy, Vol I, P 304
21 स्वरूपद्रव्यक्षेत्रकालभावै: सत्त्वम् पररूपद्रव्यक्षेत्रकालभावैस्त्वसत्त्वम्, तदा क्व विरोधावकाश: (स्याद्वाद मञ्जरी, पृ 176। तुलनीय, स्याद्वादमुक्तावली, 1 19-22)
22 मधुकरमुनि, अनेकान्तदर्शन, पृ. 25-26
23 T G Kalghatgi, Jaina View of Life, P P 23-32,
24 अनेकान्तदर्शन, पृ 27 तथा जैनान्याय का विकास, पृ. 72
25 अनेकान्तदर्शन, पृ. 29
26 जैनन्याय का विकास, पृ 75-77

कुलपति
राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर

170 वर्ष पूर्व उत्तरी भारत में दिगम्बर जैन मुनियों का विहार

-अनूपचन्द न्यायतीर्थ

बीसवीं सदी के प्रथम आचार्य 108 चारित्र चक्रवर्ती श्री शांति सागर जी, मुनिराज कहे जाते हैं जो उत्तरी भारत में पधारे थे-कहा जाता है कि इससे पहले कोई मुनिराज उत्तरी भारत में नहीं आये। विक्रम संवत् 1989 में 108 आचार्य शांतिसागरजी महाराज का ससंघ (सात मुनिराज, क्षुल्लक ऐलक आर्यिका माता जी ब्रह्मचारी एवं ब्रह्मचारिणी बहिनें) चातुर्मास राजस्थान की गुलाबी नगरी जयपुर में हुआ था। उस समय मेरी आयु 10 वर्ष की थी-लोगों के मुख से सुना करता था कि इससे पहिले कोई दिगम्बर मुनिराज इधर नहीं आये। प्रथम बार आने वाले शांति सागर जी महाराज ही हैं।

इधर राजस्थान के दिगम्बर जैन ग्रंथ भण्डारों की, साहित्य शोधविभाग श्री महावीर जी (राज.) के माध्यम से सूची बनाते समय मुझे तथा मेरे परम मित्र एवं सहयोगी स्व. डा. कस्तूरचन्द कासलीवाल को विक्रम संवत्-1889 की एक अधूरी काव्यकृति जिसमें एक सौ निन्यानवे (199) पद हैं प्राप्त हुई। प्राप्त रचना पद सं. 90 से प्रारंभ होती है-उससे पूर्व के 89 पद उपलब्ध नहीं हैं। प्राप्त रचना डा. कासलीवाल ने एक रजिस्टर में लिखी थी जिसे मैंने अलग से रजिस्टर से लिख लिया था। डा. साहब के स्वर्गवास के पश्चात् उनके संग्रहालय में वह रजिस्टर उपलब्ध नहीं हो रहा। मेरे द्वारा की गई अधूरी रचना की नकल के आधार पर यह तथ्यात्मक लेख प्रस्तुत है। यदि किन्हीं सज्जन के पास प्रारंभ के 89 पद्य उपलब्ध हों तो सूचित करने का कष्ट करें।

उक्त रचना वैशाखसुदी तीज (अक्षय तृतीया) संवत 1889 की है जिसे सांगानेर में संगही भवनदास की प्रेरणा से कथारूप में लिखी (चौपाई में) रचना ज्ञान झांझरी को भाषा रूप करने को दी गयी फिर इसे मयाराम ने काव्य

रूप में लिखा।

रचना संबंधी पद्य निम्न प्रकार है-

"संवत ठारासै निवासी अखतीज गुरुवार का दिन में
सांगानेरिसुथान मांहि संगही भवनदास धरि मन में।
ताका बलि सुकरी कथा या चौपई दुहा छंद अडिल में
मन थिरता सूं देखि वचनका करि धरी भाषा या तन में।। (1/198)"

ज्यो बंचो सो सोधि अक्षरकूं भूलि-चूकि सब माफि जथी ज्यो,
चीठी सौपी ज्ञान झांझरी ताकी छाया भाषा कीज्यो।
पुसपाम सु फूल बीच जो लेकरि अक्षर लगता धरिजे,
जसरथ सुत के आदि के दोउ मेलि नांव करता को लीजो।

रचनाकार ने अपना नाम अंतिम दो पंक्तियों में दिया है- पुष्पों में से फूल का बीच का अक्षर कमल, आगे अक्षर "या" जसरथसुत-राम। मयाराम-रचनाकार

रचना की प्रतिलिपि सं. 1890 में चम्पाराम छाबड़ा ने की

"इति श्री मुनिराजा की कथा संपूर्ण।। मिती ज्येठसुदी 14 दीतवार संवत् 1890 चम्पाराम छाबड़ा जो बाचोजीन पंथा जुक्त वंचिज्यो"

रचना ढूंढारी भाषा में है-दोहा, ढाल, चौपाई अडिल्ल आदि छंदों का प्रयोग किया गया है। उक्त रचना के दोहा सं. 90 से प्रतीत होता है कि मुनिगण संध्या समय सामायिक में बैठे हैं-श्रद्धालुओं को उनके आने की सूचना मिली तो रात्रि को ही दर्शनार्थ पहुंच गये तथा विनती पाठ पढ़ कर आ गये।

दूसरे दिन माघ शु. 6 मंगलवार को प्रातः दो घड़ी दिन चढ़ने के पश्चात् सामायिक से उठकर जनता को दर्शन दिये, जनता को धर्मोपदेश दिया।

मुनिराज जयपुर में सूरजपोल दरवाजे बाहर (गलतारोड) मोहनबाड़ी में विराजे थे। आहार की बेला होने पर नगर में आहार लेने आये।

मुनिराज जयपुर में कहाँ से आये यह सूचना उपलब्ध नहीं है।

संघ में दो मुनिराज वृषभसेन तथ बाहुबलि जी थे। वृषभसेन मुनिराज का आहार बैद संगही हीरालाल के यहां तथा बाहुबलि मुनिराज का आहार-घासीराम खिन्दूका के यहाँ हुआ। दोनों ही समाज के प्रमुख व्यक्ति थे।

"बखत हुई जब आहार की जयपुर मांही आय,
बैद संगही हीरालाल के वृषभसेन मुनि पाय"।। 97 ।।

खिन्दूका घासीराम के पूर्वें कही जिहिं चाल
बाहुबलजी लेयके कर-पातर में ग्रासा।। 98 ।।

आहार लेकर दोनों मुनिराज रामगंज की चौपड (कुण्ड) पर होकर रास्ते में दिगम्बर जैन मन्दिर पाटनियां (ढूढियों) के दर्शन करते हुए वापस मोहन बाड़ी गये। दिन में जनता को धर्मापदेश दिया तथा संध्या की सामायिक में बैठ गये।

दूसरे दिन माघ शु. 7 बुधवार को प्रातः धर्मोपदेश देकर आहार के निमित्त जयपुर नगर में आये तथा श्योलालजी बख्शी के वृषभसेन जी तथा सरुपचन्द[1] खिन्दूका (पाटनी) के यहाँ बाहुबलि मुनिराज का आहार हुआ।

आहार के पश्चात् जयपुर नगर के सबसे प्राचीन एवं प्रसिद्ध गंगापोल दरवाजे से होकर बास बदनपुरा की प्रसिद्ध जैन नसिया गये। संवत् 1880 से 1890 के बीच निर्मित्त संगही जी की नसियां, हुकमचन्द बज की नसियां तथा नन्दलाल (छाबड़ा) झालरावाली नसियां के दर्शन किये धर्मोपदेश दिया तथा वहा़ं से बिहार कर मानसागर बांध (जलमहल) की पाल से बांध की घाटी से पन्नामियां की सराय होकर आमेर के बाहर दिगम्बर जैन नसियां कार्तिस्तम्भ पहुँचे। यहां आमेर गद्दी के भट्टारकों की समाधियां तथा विं सं. 4 से लेकर 1882 तक के मूलसंघ के भट्टारकों का ऐतिहासिक स्तंभ है।

समाज के सुप्रतिष्ठित व्यक्ति श्री विरधीचन्द संगही मालावत नसिया दर्शनार्थ गये तथा सम्मान पूर्वक आमेर नगर में मंगल प्रवेश कराया।

जयपुर से पूर्व आमेर राजधानी थी।

मुनिराज ससंघ आमेर में हीरालाल संगही की विख्यात हवेली पर आये और उसे मन्दिर समझ कर पैर धोकर अंदर प्रवेश किया। संध्या हो चली थी अत: मुनिराज वहीं सामायिक में बैठ गये। प्रात: वहां से उठकर मन्दिर जाकर दर्शन किये। 1008 भगवान नेमिनाथ-श्यामप्रभु (सांवला जी) के दर्शनकर अति प्रसन्न मुनिराजों ने वहीं सामायिक की।

नोट - "आमेर में सांवलाजी के मन्दिर के पहिले मार्ग में संगही हीरालाल जी की हवेली आज भी विद्यमान है, जिसके सामने तीन उत्तुंग शिखर वाला दिगम्बर जैन मन्दिर संगही जी का है जिसमें व्यास की गरदी में शिव पिंडी पधरा कर भ्रष्ट किया गया है। अब यह मन्दिर पुरातत्त्व विभाग की संपत्ति है।"

विरधीचन्द संगही ने हवेली में चौका लगाया तथा जयपुर से एक जैन-अग्रवाल बंधु ने भी पहुंच कर चौका लगाया। अग्रवाल बंधु ने मुनिराज को आहार देकर ही अन्न-जल ग्रहण करने की प्रतिज्ञा ले रखी थी।

मुनिराज शुद्धि करके जिनप्रतिमा के चरण स्पर्श कर आहार के लिये निकले तो विरधीचन्द संगही ने सरपर कलश रखकर पड़गाहा तथा नवधा भक्ति पूर्वक वृषभसेन मुनिराज को आहार कराया। बाहुबलि मुनिराज का आहार भी निरंतराय अग्रवाल बंधु के यहां हुआ।

मुनिराज आहार लेकर बाहर निकले तो अपार दर्शनार्थियों की भीड़ थी। दर्शन देकर अंबावती (आमेर) ग्राम की ओर बिहार किया। साईवाड़ पहुंचकर सामायिक की तथा साथ में जा रहे जन समूह को वापस जाने को कहा।

मिती माघ शुक्ला नवमी शुक्रवार को प्रात: सामायिक से उठकर लोगों को दर्शन दिये। साईवाड़ ग्रामवासियों ने मुनिराज के दर्शन कर मंगल-गीत पद विनती आदि गाये। मुनिराज का सभी ने प्रवचन सुना।

साईवाड़ में मुनियों को आहार देने के लिये भवानीराम चौधरी सपत्नी पहुँचे। पत्नी चौधरायण ने मुनियों को आहार देकर अन्नजल ग्रहण करने की

प्रतिज्ञा ले रखी थी। उसने नवधा भक्ति पूर्वक मुनिराज वृषभसेन को आहार दिया।

साईवाड़ के श्रावकों ने दूसरे मुनिराज बाहुबलि को नवधा भक्ति पूर्वक आहार दिया तथा उनसे कोई आखड़ी-प्रतिज्ञा देने को कहा। मुनिराज ने कहा था कि सब जीवों के प्रति दया भाव रखो।

मुनिसंघ की भावना तीर्थराज सम्मेद-शिखरजी को जाने की थी अत: साईवाड़ से बिहार कर आगे बढ़े। साईवाड़ के श्रावक दूर तक छोड़ने गये।

साईवाड़ आमेर से नाहटा होकर 9 कि.मी. दूर है। यहां सं. 1748 में दीवान रामचन्द्र छावड़ा द्वारा निर्मित शिखर बंद मन्दिर है। यहां कासलीवाल एवं गोधा गोत्री परिवार हैं।

मुनिराज अनेक गांवो में विहार करते हुए निकले जहां जैनों के घर तथा मन्दिर आये वहां नवधा भक्ति पूर्वक आहार की व्यवस्था हो जाती तथा जहां व्यवस्था नहीं होती मुनिराज उपवास रखते।

मुनि संघ की आहार की व्यवस्था के लिये कर्णाटक देश के पंचो ने व्यवस्था की उन्होंने संतीलाल उसकी पत्नी तथा एक ब्राह्मण एवं एक व्यास को खर्चा देकर, दो टट्टु सामान रखने को साथ में दिये तथा उनसे कह दिया कि तुम लोग जहां कहीं श्रावक चौके की व्यवस्था नहीं कर सके वहां मुनिराज के आहार की व्यवस्था करो-इनके साथ तुम भी सम्मेद-शिखरजी की यात्रा कर लेना।

''कर्णाटक के देस के, पंच किया छै साथ।
खरची सोंपी खरचकूं, राखो थांकै हाथ''
संतीलाल फुनि भारिज्या, विरामण, व्यास जु दोय
भेष धारि बाई मिले, टटु ल्याये दोय''
जीठै श्रावक नै, करैं आहार गुरु काज।
सांतरि सारी थे करो, पुड़गाहो मुनिराज''

थे भी तीरथ ढोकि ज्यो, ठेठ शिखरजी जाय।
ज्यांका पुन्य प्रभाव सूं सुख संपदा पाय॥'' (137-140)

संतीलाल के कथनानुसार वृषभसेन मुनिराज तो गृहस्थ अवस्था में व्रतादि करके मुनि बने थे, वे जैन जाति के थे और बाहुबलि मुनिराज जाति से राजपूत थे तथा 40 वर्ष की आयु में दीक्षा ली थी। वृषभसेन मुनिराज की आयु उस समय 65 वर्ष की थी अर्थात् उन्होंने 42 वर्ष की आयु में दीक्षा ली थी। बाहुबलि मुनिराज ने 28 वर्ष की आयु में दीक्षा ली।

विहार करते हुए संघ मथुरा पहुँचा, वहां एक मुनिराज और मिल गये अत: वहां तीन मुनि हो गये।

संघ हाड़ोती प्रदेश (कोटा-बूंदी)के सुनारा गांव में आया-वहां की जैन समाज ने श्रद्धापूर्वक चातुर्मास संपन्न कराया। चातुर्मास समाप्त कर दोनों मुनि पुन: मथुरा आ गये।

मथुरा के समीप 'उवरा' गांव निवासी एक लालचन्द जैन, जो पैंतीस वर्ष का युवक था, उसने मुनिराज की शांत मुद्रा देख मुनि दीक्षा लेनी चाही। उसने मुनिराज के समक्ष णमोकार महामंत्र पढ़कर सारे वस्त्र उतार दिये और मुनि दीक्षा देने की प्रार्थना की तथा संघ के साथ सम्मेद-शिखर भी जाने की बात कही।

मुनि वृषभसेन जी ने कहा-तुम पहले गिरनारजी क्षेत्र की वंदना करके आओ-यह पंचम काल है व्रतों की पूरी पकाई के पश्चात् ही दीक्षा योग्य है।

मुनिराज वृषभसेन जी ने यह भी कहा कि तुम गिरनार क्षेत्र से लौटकर आओ-यदि हम जीवित रहे तो अपना पुन: मिलन हो जाएगा तब आपकी दीक्षा होगी-

''मेह भी ख़िच्या आवस्या, रहसी तो परजाय।
समागम सबको मिले, जब दिष्या पाय॥'' 163

यह सुनकर स्वयं दीक्षित लालचन्द ने गुरुओं को नमस्कार कर मथुरा से

विहार किया तथा अपना नाम मुनि बलभद्र घोषित कर दिया।

बलभद्र मुनिराज तीर्थराज सम्मेद शिखर की यात्रा का दृढ़ भाव लेकर पहिले गिरनार क्षेत्र की यात्रा पर रवाना हुए और पद विहार करते हुए अलवर नगर में आये। वहां उन पर राज्य के सेवकों की ओर से घोर उपसर्ग किया गया-उन्हें नग्न देख लोगो ने पागल (बावला) कह दिया-तीन दिन ताले में बंद रखा, किंतु उपसर्ग सहन किया-उफ तक नहीं की-ध्यानारूढ़ रहे तथा मन में सोचते रहे कि स्वर्ण तपाने पर ही कुन्दन बनता है। इस संदर्भ में निम्न पद देखिये-

"बलभदर जी चालिके, आये अलवर सहर।
त्यां के ऊपरिराज का अतिबरसायो कहर॥ 199॥
कर चाकरी राज की, सहलवार की जात।
दुख दीनू मुनिराज कूं दिनातीन पुनिरात॥ 197॥
अज्ञानी मूरखि कही, नागतणा को होय।
चलि आयो ई सहर में तीसु उपसर्ग होय॥ 198॥
जानि बावलो अति दुख दिये कपडा ल्याकर पहराय।
इसी भांतिदुख भुगत्या गुरां, करता सुं सब कहें सुनाय॥
यां के तो कुछ खात्तिर नहि उपसर्ग के सामो जाय
सोनु तप्यासुं सुध होंय, ताब सह्या सुं कुन्दन होय॥

मुनिराज की तपस्या के पुण्य प्रभाव से किसी देव की छाया उनके शरीर में प्रवेश की तथा सारा उपसर्ग दूर किया-अलवर के सब पंच लोग मुनिराज के पैरों में पड़े।

तपस्वी शिरोमणि ऐसे गुरु पर उपसर्ग होने के कारण प्रायश्चित्त स्वरूप चन्द्रायण व्रत किया गया।

अलवर से विहार कर मुनि बलभद्र जी ने राजस्थान में प्रवेश किया। (संभवत: उस समय अलवर राजस्थान में नहीं हो) उनके हृदय में राजस्थान (जयपुर) के मन्दिरों के दर्शन की तीव्र इच्छा थी।

विहार करते हुए मुनिराज ने चैत्र कृष्णा दशमी को आमेर में प्रवेश किया, जिसकी सूचना सायंकाल तक जयपुर नगर में पहुँच गई। मुनिराज ने आमेर के मन्दिरों के दर्शन किये।

जयपुर के तत्कालीन प्रमुख समाज सेवी श्री हरचन्दसाह अन्य लोगों के साथ मुनिराज को लेने आमेर पहुँचे और वहां से लाकर राणा जी की छत्रियों के सामने नसियां में ठहराया, जहां जयपुर से दर्शनार्थी आये और धर्म लाभ लिया।

चैत्र कृ. 11 मंगलवार को जयपुर में हरचन्द साह के यहां आहार लेकर मुनि श्री नसियां वापस आ गये जहां धर्मोपदेश हुआ तथा चर्चा हुई।

चैत्र कृ. दूसरी ग्यारस(11) बुधवार को तनसुख पांडे के यहां आहार हुआ तथा मन्दिर के दर्शन किये। अन्य लोगों ने भी भक्ति पूर्वक दर्शन वंदना की तथा यह देखकर आश्चर्य चकित रह गये कि इस पंचम काल में भी ऐसे महान तपस्वी मुनिराज बिरले ही हैं। उपसर्ग की चर्चा सुनकर तो लोगों में और भी श्रद्धा बढ़ी।

''देख छबि मुनिराज की, उछव मन में जोय।
ऐसे पंचम काल में, बिरले मुनिवर होय।। 180।।

चैत्र बदी 12 गुरुवार को सामायिक से उठे धर्मोपदेश दिया तथा आहार की बेला होने पर दर्शनाथी उठकर आ गये। मुनिराज आहार चर्या की मुद्रा में नगर की ओर आये तो पन्नालाल बड़जात्या ने मुनिराज को पड़गाहा तथा नवधा भक्तिपूर्वक आहार दिया।

चैत्र कृष्णा 13 को मोहनलाल काला के यहाँ आहार लेकर नसियां वापस आये। दूसरे दिन चैत्र कृष्णा चतुर्दशी शनिवार को जयपुर के प्रसिद्ध दीवान अमरचंद जी पाटनी के यहां आहार हुआ। दीवान जी के मन्दिर में दर्शन किये-वहां रचना देखी तथा चतुर्दशी को होने वाली मण्डल पूजा सुनी, ताण्डव-नृत्य देखा भजन आदि सुने। दीवान अमरचन्द जी का मन्दिर जयपुर

के लालजी साँड़ के रास्ते में है, जहां 1008 भगवान चन्द्र प्रभ की श्वेत पाषाण की विशाल पद्मासन प्रतिमा सं. 1883 में दीवान अमरचन्द द्वारा प्रतिष्ठापित है।

चैत्र कृष्णा अमावस्या को मुनिश्री ने जयपुर से विहार किया-श्रद्धालुजन अजमेर रोड स्थित नाटाणी के बाड़ा तक गये-वहां से महाराज ने भक्तों को वापस भेजा।

''नाटाण्यां का बागसूं दई पंचानै सीख
दया भाव तुम राखज्यो, मात्र जीव पर ठीक'' ।। 189 ।।

नोट - जयपुर रियासत के समय राज्य के प्रमुख दीवान मुख्यमंत्री आदि इस बाग में ही निवास करते थे। यहां आरतराम सोनी ने नवधा भक्तिपूर्वक आहार दिया।

108 मुनि श्री बलभद्र जी महाराज नाटाणी के बाग से प्रस्थान कर, गिरनार क्षेत्र की यात्रार्थ आगे बढ़े-क्रमशः गिरनार जी की यात्रा की। अपनी प्रतिज्ञानुसार मुनि श्री ने शिखर जी के लिये प्रस्थान किया और मार्ग में चम्पापुर, पावापुर आदि क्षेत्रों की यात्रा करते हुए सम्मेद शिखर पहुँचे, जहां तीनों मुनिराज एकत्र हो गये-वृषभसेन जी, बाहुबलि जी तथा बलभद्र जी

''गांव बावडा पहुँच के क्रोध दाविल्यो ग्यान।
ईठासूं व गुरु गये, सामायिक धरि ध्यान।। 152
बलिभदर मुनिराज की कही बोध की बान।
नेमनाथ गिरनारजी, जाढो की करिजात।। 153
पांवापुर चंपापुरी बिचि बिचि तीरथ ओर।
ढेठि शिखरजी पोंचसी तीनमुन्या की जोड।। 154

अंत में अष्ट द्रव्य की पूजा का महत्व बताते हुए रचना को समाप्त किया है।

उपसंहार

उक्त रचना के प्रारंभिक पद नहीं होने से यह तो ज्ञात नहीं होता है कि

उक्त दो मुनिराज वृषभसेन एवं बाहुबलि जयपुर में मोहनबाड़ी में कहां से विहार करते हुए आये, किंतु रचना के ऐतिहासिक होने में कोई संदेह प्रतीत नहीं होता। रचना में जयपुर के तत्कालीन विभिन्न पुरुषों, जैन दीवानों का तिथिवार महत्त्वपूर्ण उल्लेख है, जो तथ्यात्मक है। रचना से तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था, मुनियों के प्रति श्रद्धा, आगमानुसार मुनिचर्या स्वयं दीक्षित हो जाना, तीर्थ यात्राओं के प्रति रुझान, मुनियो की आज्ञा का पालन, आहार के पूर्व शुद्धि करना, मार्ग में भोजन आदि की व्यवस्था के लिये संघ में परिग्रह साथ रहना, अजैनों द्वारा जिन दीक्षा लेना, अलवर में नग्न मुनि पर उपसर्ग होना तथा मुनिराज को तीन दिन ताले में बंद रखना, जयपुर, आमेर, साईवाड़, मथुरा, सुनारा, उवरा आदि ग्रामों की जानकारी तथा साधुओं के प्रति अटूट श्रद्धा का पता चलता है।

यदि ऐसी रचनाएँ और भी मिलें तो प्रकाश में लाने की महती आवश्यकता है।

नोट - रचना में जयपुर के सं. 1880 से 1890 के बीच में होने वाले विशिष्ट व्यक्ति वैद हीरालाल संगही, स्वरूप चन्द पाटनी, बिरधीचन्द संघी मालावत, अमरचन्द दीवान, आरतराम सोनी, प्रमुख नगर आमेर सांगानेर जयपुर तथा प्रसिद्ध नाटाणी के बाग का उल्लेख आदि प्रामाणिक तथ्य हैं।

1 हल्दियो के रास्ते मे ऊँचा कुआ के सामने श्री शान्तिनाथ दिगम्बर जैन मदिर को दरोगा सरूपचन्द पाटनी खिन्दूका ने स 1888 मे बनवाया था।

769-गोदीकों का रास्ता
किशनपोल बाजार जयपुर-302003

श्रमण परम्परा के वंदनीय साधक और उनके मध्य सम्बन्ध : एक समीक्षा

-डॉ. राजेन्द्रकुमार बंसल

विश्व के समस्त धर्म-दर्शनों में जैन दर्शन ही समस्त जीवात्माओं को स्वभाव से वीतराग, सर्वज्ञ एवं परम आनंद रूप बताकर उसकी प्राप्ति का मार्ग बताता है। दु:ख के जनक हैं-कुज्ञान, कषाय, कंचन और कामिनी की अभिलाषा, इसे ही पर-समय कहा है। आनंद प्राप्ति का मार्ग है आत्मज्ञानपूर्वक कषाय, कंचन, कामिनी का परित्याग एवं शुद्धोपयोग रूप आत्मध्यान, यही स्व-समय है। इसी कारण मुक्ति का आराधक साधु परिग्रह और स्त्री का त्यागी होता ही है। (मूलाचार-1008)।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने जैनदर्शन में मात्र तीन भेष-लिंग स्वीकार किये हैं-पहला जिनभेष रूप साधु, दूसरा उत्कृष्ट श्रावक (ऐलक) एवं तीसरा जघन्य पद में स्थित आर्यिका। जिनमत में चौथा भेष नहीं है (दर्शनपाहुड गाथा-18)।

1: वंदनयोग्य साधु :

जो पांच महाव्रत, तीन गुप्ति एवं संयम को धारण करते हैं तथा अंतर-बाह्य परिग्रह से रहित हैं वे वंदने योग्य साधु हैं। यही निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग है। अत्यल्प परिग्रह रखने वाला महाव्रती और संयमी नहीं हो सकता। वह तो गृहस्थ के समान भी नहीं है (सूत्रपाहुड-गाथा 20), अत्यल्प परिग्रह ग्रहण करने वाले साधु निगोदगामी निंदायोग्य और अवंदनीय होते हैं (सू. पा. गा. 18-19)।

आचार्य वट्टकेर के अनुसार साधु द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और शक्ति को अच्छी तरह समझकर भली प्रकार ध्यान, अध्ययन और चारित्र का आचरण करते हैं (मूलाचार 1007)। ज्ञान-विज्ञान से समपन्न और ध्यान, अध्ययन तप से युक्त तथा कषाय और गर्व से रहित मुनि शीघ्र ही संसार को पार कर लेते

हैं (मूला. गाथा 970)। विनयसहित मुनि स्वाध्याय करते हुये पंचेन्द्रियों को संकुचित कर तीन गुप्ति युक्त एकाग्रमना हो जाते हैं। गणधरदेवादि ने कहा कि अंतरंग-बहिरंग बारह प्रकार के तपों में स्वाध्याय के समान तप कर्म न हैं और न होगा ही। स्वाध्याय ही परम तप है (मूला. गा. 971-972)। जिस प्रकार धागा सहित सुई नष्ट नहीं होती, उसी प्रकार आगम ज्ञान सहित साधु प्रमाद दोष से भी नष्ट नहीं होता (मूला. 973)। आगमहीन आचार्य अपने को और दूसरों को भी नष्ट करता है (मूला. 965)। साधु समभाव वाले होते हैं। शत्रु-मित्र, निंदा-प्रशंसा, लाभ-अलाभ और तृण-कंचन में उनका समभाव होता है (बोधपाहुड गाथा 49)। ऐसे विरक्त, निर्ममत्व, निरारम्भी, संयम, समिति, ध्यान एवं समाधि से युक्त ऋषि ही एक भवावतारी लौकान्तिक देव होते हैं (ति. प. महाधिकार आठ-गा0 669-674)।

2: ग्यारह प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक :

जिनमत में दूसरा भेष ग्यारह प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक-ऐलक का होता है। इनके पास एक वस्त्र या कोपीन होता है। पात्र या कर-पात्र में भिक्षा-भोजन करते हैं। मौन या समिति वचन बोलते हैं। सम्यग्दर्शन ज्ञान संयुक्त हैं। ऐसे उत्कृष्ट श्रावक ऐलक-छुल्लक "इच्छाकार" करने योग्य हैं। "इच्छामि" या इच्छाकार का अर्थ अपने आपको अर्थात् आत्मा को चाहना है (सूत्र पा. गा. 21,13-15), जिसे आत्म इष्ट नहीं उसे सिद्धि नहीं, अतः हे भव्य जीवो! आत्मा की श्रद्धा करो, इसका श्रद्धान करो और मन-वचन-काय से स्वरूप में रुचिकर, मोक्ष प्राप्त करो (सूत्रपा. 16)।

3: आर्यिका-नारीभेष :

जिनमत का तीसरा जघन्य पद नारी का आर्यिका भेष है। आर्यिका एक वस्त्र धारण करती है और सवस्त्र दिन में एक बार भोजन करती है। छुल्लिका दो वस्त्र रखती है (सूत्रपा. गा. 22)। जिनमत में नग्नपना ही मोक्ष-मार्ग है। वस्त्र धारण करने वाले मुक्त नहीं होते। नारी के अंगों में सूक्ष्म-काय, अगोचर त्रस जीवों की उत्पत्ति होते रहने के कारण वे दीक्षा के अयोग्य हैं। चित्त की चंचलता के कारण उन्हें आत्मध्यान नहीं होता फिर भी जिन-मत की श्रद्धा से

शुद्ध होने से मोक्षमार्गी हैं और घोर चारित्र/तीव्र तपश्चरण के कारण पापरहित हैं जिससे स्वर्गादिक प्राप्त करतीं हैं (सूत्रपा. गा. 24-26)।

यद्यपि आर्यिका का पंचम गुणस्थान (देश-विरत) होता है, फिर भी साधुओं के समान उनका आचार होता है। मात्र वे वृक्ष-मूल योग, आतापन योग, प्रतिमायोग, वर्षायोग तथा एकान्तवास आदि नहीं करती (मूलाचार गा. 157) इस कारण वे उपचार से महाव्रती कहीं जाती हैं। वे निरन्तर पढ़ने, पाठ करने, सुनने, कहने और अनुप्रेक्षाओं के चिन्तवन में तथा तप, विनय और संयम में नित्य ही उद्यम करती हुई ज्ञानाभ्यास में तत्पर रहती हैं (मूलावार 189)। "वंदामि" शब्द से उनकी विनय की जाती है।

साधु आर्यिका कितने दूर-कितने पास :

साधु और आर्यिका दोनों यद्यपि वीतराग-मार्ग के पथिक हैं फिर भी काम-स्वभाव की दृष्टि से एक घी और दूसरा अग्नि के समान है। अतः इनके मध्य कितनी निकटता और कितनी दूरी हो इसका विशद वर्णन आचार्य वट्टकेर ने मूलाचार में और आचार्य शिवकोटि ने भगवती आराधना में किया है, जिसका संक्षिप्त सार निम्न प्रकार है :-

आचार्य एवं साधु से क्रमशः पांच और सात हाथ दूरी से वंदना

> **पंच-छः सत्त हत्थेसूरी अज्झावगो य साघू य**
> **परिहरिऊणज्जाओ गवासणेणेव वंदंति** (मूला. 195)

अर्थ - आर्यिकाएं आचार्य को पांच हाथ से, उपाध्याय को छह हाथ से ओर साधु को सात हाथ से दूर रहकर गवासन मुद्रा में ही वंदना करती हैं। स्पष्ट है कि साधुओं को नारी/नारीवर्ग से सात हाथ की दूरी बनाये रखना चाहिये।

एकान्त मिलन एवं वार्ता का निषेध

> **अज्जागमणे काले ण अत्थिदव्वं तधेव एक्केण**
> **ताहिं पुण सल्लावो ण य कायव्वो अकज्जेण।**
> **तासिं पुण पुच्छाओ इक्किस्से णय कहिज्ज एक्को दु**
> **गणिणी पुरओ किच्चा जादि पुच्छइ तो कहेदव्वं।** (मूला. गा. 177-178)

अर्थ - आर्यिकाओं के आने के समय मुनि को अकेले नहीं बैठना चाहिये। इसी प्रकार उनके साथ बिना प्रयोजन वार्तालाप भी नहीं करना चाहिये। इनमें से यदि अकेली आर्यिका प्रश्न करे तो अकेला मुनि उत्तर नहीं दे। यदि गणिनी को आगे करके वह प्रश्न पूंछती है तभी उसका उत्तर देना चाहिये। तात्पर्य यह कि साधु-आर्यिका असमय में और अकेले में न तो मिले और न ही प्रयोजनहीन चर्चा करे।

तरुण-तरुणी के वार्ता का दुष्परिणाम

तरुणो तरुणीए सह कहा वसल्लावणं च जदि कुज्जा
आणाकोवादी या पंचवि दोसा कदा तेण।। (मूला. 179)

अर्थ - तरुण मुनि तरुणी के साथ यदि कथा या वार्तालाप करता है तो उस मुनि ने आज्ञाकोप, अनवस्था, मिथ्यात्व-आराधना, आत्मनाश और संयम विराधना इन पांच दोषों को किया है, ऐसा समझना चाहिये। इसका परिणाम सर्वनाश ही है।

आर्यिकाओं के आवास में मुनिचर्या का निषेध और उसके परिणाम

णो कप्पदि विरदाणं विरदीणमुवासयह्मि चिट्ठेदुं
तत्थ णिसेज्जउवट्ट ण सज्झायाहारभिक्खवोसरणे। (मूला. 180)

अर्थ - आर्यिकाओं के निवास स्थल (वसतिका) में मुनियों का रहना और वहां पर बैठना, लेटना, स्वाध्याय आहार, भिक्षा व कोयोत्सर्ग करना युक्त नहीं है। स्पष्ट है कि आर्यिकाओं के निवासस्थल पर मुनियों का निवास निषिद्ध है।

मूलाचार के समयसाराधिकार के क्षेत्र शुद्धि की गाथा क्रमांक 54 में पुन: उक्त तथ्य की पुष्टि की है। यह गाथा उक्त गाथा 180 के प्राय: समान ही है और गाथा क्रमांक 952 में निर्देशित किया है कि धीर मुनि पर्वतों की कन्दरा, श्मशान, शून्य मकान और वृक्षों के नीचे आवास करें।

आर्यिका-मुनि सहवास का दुष्परिणाम

मूलाचार की गाथा 181 एवं 182 में आर्यिकाओं और मुनियों के संसर्ग

का दुष्परिणाम दर्शाया है जो इस प्रकार है-

"काम से मलिनचित्त श्रमण, स्थविर, चिरदीक्षित, आचार्य, बहुश्रुत तथा तपस्वी को भी नहीं गिनता है, कुल का विनाश कर देता है (गाथा 181)। वह मुनि कन्या, विधवा, रानी, स्वेच्छाचारिणी तथा तपस्विनी महिला का आश्रय लेता हुआ तत्काल ही उसमें अपवाद को प्राप्त होता है (गाथा 182)।

भगवती आराधना की गाथा 341 (देहलीप्रकाशन) दिशाबोधक है-

खेलपडिद मप्पाणं ण तरदि जह माच्छिया विभोचेदुं
अज्जाणचरो ण तरदि तह अप्पाणं विमोचेदुं (241 भ. आ.)

अर्थ - जैसे मनुष्य के कफ में पड़ी मक्खी उससे निकलने में असमर्थ होती है वैसे ही आर्यिका के साथ परिचय किया मुनि छुटकारा नहीं पा सकता।

आर्यिकाओं की दीक्षा-आचार्य के गुण :

जो गम्भीर हैं, स्थिर चित्त हैं, मित बोलते हैं, अल्प कौतुकी हैं, चिरदीक्षित हैं और तत्वों के ज्ञाता हैं ऐसे मुनि आर्यिकाओं के आचार्य होते हैं। इन गुणों से रहित आचार्य से चार काल अर्थात् दीक्षाकाल, शिक्षाकाल, गणपोषण और आत्मसंस्कार की विराधना होती है और संघ (गच्छ) का विनाश हो जाता है (मूला. 184-185)। इस दृष्टि से योग्य आचार्य से ही नारियों को दीक्षा लेना उचित है।

आर्यिकाओं का आवास कैसा हो, वे कहां और कैसे जावें :

आर्यिकाओं के उपाश्रय या आवास के सम्बन्ध मे मूलाचार में स्पष्ट निर्देश है, जो इस प्रकार है :-

जो गृहस्थों से मिश्रित न हो, जिसमें चोर आदि का आना-जाना न हो और जो विशुद्ध संचरण अर्थात् जो मल विसर्जन गमनागमन एवं शास्त्र स्वाध्याय आदि के योग्य हो, ऐसे आवास (वसतिका) में दो या तीन या बहुत सी आर्यिकायें एक साथ रहती हैं (गाथा 191)। आर्यिकाओं को बिना कार्य के पर-गृह नहीं जाना चाहिये और अवश्य जाने योग्य कार्य में गणिनी से पूछकर साथ में मिलकर ही

जाना चाहिये (गा. 192)। आर्यिकाओं को रोना, नहलाना, खिलाना, भोजन पकाना, सूत कातना, छह प्रकार का आरम्भ, यतियों के पैर मालिश करना, धोना और गीत गाना आदि कार्य नहीं करना चाहिये (गाथा 193)।

आहार हेतु तीन या पांच या सात आर्यिकाएं आपस में रक्षा करती हुई वृद्धा आर्यिकाओं के साथ मिलकर उनका हमेशा आहार को निकलना युक्त है (गा. 194)।

मुनि-आर्यिका के संसर्ग-निषेध का कारण/दर्शन :

मूलाचार में मुनि-आर्यिका एवं अन्य नारियों के संसर्ग का निषेध कर उसका कारण/दर्शन भी व्यक्त किया है, जिसको समझना आवश्यक है। कारण को जाने बिना निर्णय समीचीन नहीं होता।

यह जीव धन, जीवन, रसना-इन्द्रिय और कामेन्द्रिय के निमित्त से हमेशा अनंत बार स्वयं मरता है और अन्यों को भी मारता है (989)। चार-चार अंगुल की जिह्वा और कामेन्द्रिय अशुभ है और इनसे जीव निश्चित रूप से दु:ख प्राप्त करता है (गा. 994)। अत: हे मुनि, तुम इसी समय इस रसनाइन्द्रिय और काम-इन्द्रिय को जीतो (गा. 990)। काठ (लेप, चित्र आदि कलाकृति) में बने हुये स्त्री रूप से भी हमेशा डरना चाहिये क्योंकि इनसे जीव के मन में क्षोभ हो जाता है (गा. 992)। पुरुष घी के भरे हुये घट जैसा है और स्त्री जलती हुई अग्नि जैसी है। स्त्रियों के समीप हुये पुरुष नष्ट हो गये हैं तथा इनसे विरक्त पुरुष मोक्ष को प्राप्त हुये हैं (गा. 993)।

माता, बहिन, पुत्री, मूक व वृद्ध स्त्रियों से भी नित्य ही डरना चाहिये क्योंकि स्त्री रूप में सभी स्त्रियां अग्नि के समान सर्वत्र जलातीं हैं (गा. 998)। हाथ पैर से लूलीं-लंगड़ीं, कान-नाक से हीन तथा वस्त्ररहित स्त्रियों से भी दूर रहना चाहिये (गा. 995)।

ब्रह्मचर्य मन-वचन-काय की अपेक्षा तीन प्रकार का है तथा द्रव्य भाव के भेद से दो प्रकार का है (गा. 996)। भाव से विरत मनुष्य ही विरत है। केवल द्रव्य विरत से मुक्ति नहीं होती। इसलिये पंचन्द्रिय के विषयों में रमण करने वाले मन को वश में करना चाहिये (गा. 997)। अब्रह्म के दश भेद हैं

अत्यधिक भोजन करना, स्नान-तेल मर्दन आदि शरीर संस्कार, केशर-कस्तूरी गन्ध माला, गीत और वाद्य सुनना, कोमल गद्दे एवं कामोद्रेकपूर्ण एकान्त स्थल में रहना, स्त्री-संसर्ग, सुवर्ण वस्त्र आदि धनसंग्रह, पूर्वरति-स्मरण, पंचेन्द्रियों के विषयों में अनुराग तथा पौष्टिक रसों का सेवन (गा. 990-999)। जो महात्मा पुरुष महादु:खों के निवारण हेतु इन दश प्रकार के अब्रह्म का परिहार करता है वह दृढ़ ब्रह्मचारी होता है (गा. 1000)।

भगवती आराधना में गाथा 1092 से 1113 तक स्त्री-पुरुष संसर्ग का निषेध किया है जो पठनीय और माननीय है।

आगमानुसार आचरण करने का सुफल :

मूलाचार ग्रन्थ के समाचाराधिकार का उपसंहार करते हुये आचार्य वट्टकेर घोषणा करते हैं कि उपर्युक्त विधान रूप चर्या का जो साधु और आर्यिकायें आचरण करते हैं वे जगत् से पूजा, यश और सुख को प्राप्त कर सिद्ध हो जाते हैं (गा. 196)। प्रकारान्तर से उक्त विधान की अवज्ञा-अवमानना से अपयश, दु:ख और संसार-भ्रमण होता है जो विचारणीय है। परिग्रह और स्त्री-त्याग करके साधु शीघ्र ही सिद्ध हो जाता है (गा. 108)।

मुनिभेष में अब्रह्म सेवन एवं स्त्री-संसर्ग का दुष्फल :

अब्रह्म सेवन के फल से सम्बन्ध में आचार्य कुन्दकुन्द कृत लिंगपाहुड की गाथा 7 उल्लेखनीय है जो इस प्रकार है :-

पाओपहदभावो सेवदि य अबंभु लिंगरूवेण
सो पाव मोहिदमदी हिंडदि संसारकांतारे (लिंग पा. 7)

अर्थ - जिस मुनि का पाप से आत्मभाव घात हो गया है ऐसा पाप-मोहित बुद्धि वाला मुनि-रूप में अब्रह्म (भोग-विलास) का सेवन करता है, जिससे वह संसार रूपी कांतार-वन में भ्रमण करता है।

जिन-दीक्षा लेकर जो मुनि स्त्रियों के समूह के प्रति राग-प्रीति करता है, निर्दोषों में दोष लगाता है वह ज्ञान-दर्शन रहित है। ऐसा मुनि पशु, समान

अज्ञानी है, श्रमण नहीं (लिं. पा. 17)। जो मुनि स्त्रियों के समूह में उनका विश्वास करके और उनको विश्वास उत्पन्न कराके दर्शन-ज्ञान-चारित्र को देता है, उनको सम्यक्त्व बताता है, पढ़ना-पढ़ाना, ज्ञान-दीक्षा देता है, प्रवृत्ति सिखाता है, इस प्रकार विश्वास उत्पन्न कर प्रवर्तता है वह पार्श्वस्थ मुनि से भी निकृष्ट है प्रगट भाव से विनष्ट है, श्रमण नहीं है (लिंग पा. गा. 20)। जो जिन मुद्रा धारण कर व्यभिचारणिी स्त्री के घर आहार कराता है, स्तुति करता है वह अज्ञानी है, धर्म से भ्रष्ट है, श्रमण नहीं है (लिंग. पा. गा. 21) पुनश्च जो साधु-गृहस्थों के विवाहादिक कराता है, कृषि-व्यापार एवं जीवघात आदि पाप कार्य करता है, चोरी-झूठ-युद्ध-विवाद करता है,, शतरंज-पासा आदि खेलता है वह नरकगामी होता है (लि. पा. गा. 9/10)।

उपसंहार :

जिनेन्द्र भगवान् का वीतराग मार्ग विशिष्ट मार्ग है। अंतरंग में जिनदर्शन रूप आत्म-श्रद्धान-आत्मरुचि होने पर उक्तानुसार जिनभेष सहज ही बाह्य में प्रकट होते है। मुनिभेष में अंतरंग में तीन कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक निर्मल परिणति प्रकट होती है और बाह्य में सम्पूर्ण परिग्रह एवं स्त्री त्याग सहित आगम प्रणीत आचरण होता है। इसी प्रकार ग्यारह प्रतिमाधारी ऐलक-आर्यिका आदि के भेष में अंतरंग में दो कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक विशुद्ध परिणति प्रकट होकर आगमानुसार बाह्य आचरण होता है तथा आचार्य मुनियों एवं आर्यिका तथा नारीजगत् के प्रति मूलाचार के निर्देशों के अनुरूप मर्यादित संयमित व्यवहार होता है तभी सभी जन आदरणीय-अभिनंदनीय होते है। आगम के दर्पण में सभी को अपनी भूमिका देखकर निर्णय करना है कि उनका चिह्न-भेष जिनलिंगी है या जैनेतर-लिंगी है।

-बी-369 ओ. पी. एस काकोनी
अमलाई पेपर मील

तीर्थंकर भगवान् महावीर और उनका अपरिग्रह दर्शन

-डॉ. अशोककुमार जैन

भारत के प्राचीन धर्मों में जैनधर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैनधर्म के प्रतिष्ठापक तीर्थङ्करों ने नैतिक एवं आध्यात्मिक आदर्शों के उन प्रतिमानों को स्थापित किया जो व्यष्टि एवं समष्टि के विकास में उल्लेखनीय भूमिका निभाते हैं। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव मानव संस्कृति के सूत्रधार बने। उन्होंने भोगमूलक संस्कृति के स्थान पर कर्ममूलक संस्कृति की प्रतिष्ठा की। दैववाद के स्थान पर पुरुषार्थवाद की मान्यता को संपुष्ट किया। उन्हीं की परम्परा में अन्य 23 तीर्थंकर हुए जिन्होंने अपने लोकातिशायी व्यक्तित्व एवं कृतित्व से वैयक्तिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक चेतना का सञ्चार किया।

अन्तिम तीर्थंकर महावीर का समय जनक्रान्ति और धर्मक्रान्ति का युग था। इस युग में राजनीति, समाज एवं धर्मसम्बन्धी मान्यतायें परिवर्तित हो रहीं थी। प्रसिद्ध इतिहासकार एच. जी. वेल्स का अभिमत है कि ई. पू. छठी शताब्दी संसार के इतिहास में महत्त्वपूर्ण काल है। इस शताब्दी में मनुष्य की चेतना सर्वत्र रूढ़िवादी परम्पराओं के बदलने के लिए क्रियाशील थी। प्रत्येक विचारक रूढ़ियों, बुराइयों और स्वार्थो का ध्वंश कर मानवता की नई प्रतिष्ठा के लिए प्रयत्नशील था। भगवान् महावीर के तीर्थ के सम्बन्ध में जयधवल के प्रारम्भ में लिखा है-

णिस्संसयकरो वीरो महावीरो जिणुत्तमो।
राग-दोस-भयादीदो धम्मतित्थस्स कारओ।।

जिन्होंने धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करके समस्त प्राणियों को नि:संशय किया,

जो वीर हैं अर्थात् जिन्होंने विशेष रूप से समस्त पदार्थ समूह को प्रत्यक्ष कर लिया है, जो जिनों में श्रेष्ठ हैं तथा राग, द्वेष और भय से रहित हैं ऐसे भगवान् महावीर धर्म-तीर्थ के कर्ता हैं।

सूत्रकृताङ्ग. में लिखा है-

पुढ़ोवमे घुणती विगयगेही, ण सण्णिहि कुव्वइ आसुपण्णे।
तरिउं समुदं व महाभवोध अभयकरे वीर अणंतचक्खू।। 6/25

आशुप्रज्ञ ज्ञातपुत्र पृथ्वी के समान सहिष्णु थे, इसलिए उन्होंने कर्म शरीर को प्रकम्पित किया। वे अनासक्त थे इसलिए उन्होंने संग्रह नहीं किया। वे अभयंकर वीर (पराक्रमी) और अनन्त चक्षु वाले थे। उन्होंने संसार के महान् समुद्र से तर कर निर्वाण प्राप्त कर लिया। भगवान् महावीर के स्तवन में और भी लिखा है-

थणिंत व सद्दाण अणुत्तरं उ, चंदे व ताराण महाणुभावे।
गंधेसु वा चंदण माहु सेट्ठं एवं मुणीणं अपडिण्ण माहु।। 6/19

जैसे शब्दों में मेघ का गर्जन अनुत्तर, तारागण में चन्द्रमा महाप्रतापी और गंधों में चन्दन श्रेष्ठ है। वैसे ही अनासक्त मुनियों में ज्ञातपुत्र श्रेष्ठ हैं।

भगवान् महावीर के युग में श्रमणों के चालीस से अधिक सम्प्रदाय थे उनमें पांच बहुत प्रभावशाली थे 1. निर्ग्रन्थ महावीर का शासन, 2. शाक्य बुद्ध का शासन, 3. आजीवक मक्खलि गोशालक का शासन, 4. गौरिक-तापस शासन, 5. परिव्राजक-सांख्य शासन। बौद्ध साहित्य में 6 श्रमण सम्प्रदायों तथा उनके आचार्यों का उल्लेख है 1-अक्रियावाद-आचार्य पूरणकश्यप, 2-नियतिवाद-मक्खलिगोशाल, 3-उच्छेदवाद-अजितकेशकम्बली, 4-अन्योन्यवाद-पकुधकात्यायन, 5-चातुर्याम संवरवाद-निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र, 6-विक्षेपवाद-संजयवेलट्ठिपुत्त।

बौद्ध ग्रन्थों में भी निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र महावोर, वर्द्धमान को सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, लोकमान्य नेता और तीर्थंकर के रूप में उल्लेख किया है। यथा-'नगंठो'

आवुत्रौ नाठ्पुत्तो सव्वञ्ञु सव्वदस्सावी अपरिसेसंज्ञाणदस्सने परिजानाति। (मज्झिम निकाय P.T.S. अ. 1 पृ. 93)

'निगंठो नाट्पुत्तो संघी चेव गणी च गणाचायो च ज्ञातोय सस्सी तित्थकरो साधु सम्मतो बहुत जनस्स स्तस्सू चिर-पव्वजितो अद्धगता क्यो अनुपत्ता' (दीघ निकाय PTS आ. 1 पृ.48-49)

त्रिपिटकों में निर्ग्रन्थ का उल्लेख बहुधा आया है। उसी आधार पर डा. याकोबी ने यह प्रमाणित किया है कि बुद्ध से पहले निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय विद्यमान था।

सूत्रकृताङ्ग के तुलनात्मक पाद टिप्पण में लिखा है कि माहण, समण, भिक्खु और निग्गंथ-ये चार मुनि जीवन की साधनायें हैं। चूर्णिकार ने समण, माहण और भिक्खु को एक भूमिका में माना है और निग्गंथ की दूसरी भूमिका स्वीकार की है। निर्ग्रन्थ की भूमिका का एक विशेषण है आत्म प्रवाद प्राप्त। चौदह पूर्वों में 'आत्मप्रवाद' नामक सातवां पूर्व है। जिसे आत्मप्रवाद पूर्व ज्ञात होता है वही निर्ग्रन्थ हो सकता है, माहण, श्रमण और भिक्षु के लिए इसका ज्ञात होना अनिवार्य नहीं है।

औपपातिक सूत्र में भगवान् महावीर के साधुओं को चार भूमिकाओं में विभक्त किया गया है। श्रमण, निर्ग्रन्थ, स्थविर और अनगार। वहाँ श्रमण सामान्य मुनि के रूप में प्रस्तुत है। निर्ग्रन्थ की भूमिका विशिष्ट है। उसमें विशिष्ट ज्ञान, विशिष्ट बल, विशिष्ट लब्धियां, विशिष्ट तपस्यायें और विशिष्ट साधना की प्रतिमायें उल्लिखित हैं। स्थिविर की भूमिका का मुनि राग द्वेष विजेता, आर्जव-मार्दव आदि विशिष्ट गुणों से सम्पन्न, आत्मदर्शी, स्वसमय तथा परसमय का ज्ञाता, विशिष्ट श्रुतज्ञानी और तत्व के प्रतिपादन में सक्षम होता है। अनगार की भूमिका का मुनि विशिष्ट साधन और सर्वथा अलिप्त होता है।

बोधपाहुड में प्रव्रज्या धारक की विशेषताओं के बारे में लिखा है-

णिग्गंथा णिस्संगा णिम्माणासा अराय णिद्दोसा
णिम्मम णिरहंकारा पव्वज्ज एरिसा भणिया।। गा. 49

निर्ग्रन्थ - निसंग, निर्मानी, आशा से रहित, विरागी, निर्द्वेषी, निर्मोही और निरहंकारी प्राणी दैगम्बरी दीक्षा धारण करते हैं।

भगवती आराधना में लिखा है-

गंथच्चाएण पुणो भावविसुद्धी वि दीविदा होइ।
ण हु संगघटितबुद्धी संगे जहिदुं कुणदि बुद्धी।। गा. 1174

निर्ग्रन्थता से उत्तरोत्तर परिणामों में निर्मलता की वृद्धि होती है। परिग्रहा-सक्त संग-त्याग में अक्षम होता है।

सव्वत्थ होइ लहुगो रूवं विस्सासियं हवइ तस्स।
गुरुगो हि संगसत्तो संकिज्जइ चावि सव्वत्थ।। गा. 1176

ग्रंथहीन पुरुष चिन्ता रहित अर्थात् स्वरूप देखने मात्र से श्रद्धालु होते है और परिग्रह अविश्वास का कारण है क्योंकि शस्त्र, धन वगैरह छिपाने की मन में शंका होती है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है-

जो संगं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं।
तं णिस्संगं साहुं परमट्ठवियाणया विंति।। समयसार, 131

जो साधु बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के सम्पूर्ण परिग्रह को छोड़कर अपने आप की आत्मा को दर्शन-ज्ञानोपयोग स्वरूप शुद्ध अनुभव करता है उसको परमार्थ स्वरूप के जानने वाले गणधरादि देव निर्ग्रन्थ साधु कहते हैं।

तत्वार्थसूत्र में निर्ग्रन्थ के भेद बताते हुए लिखा है-

पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्था:।। -तत्वार्थसूत्र 9/48

पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक ये निर्ग्रन्थ के पांच प्रकार हैं।

निर्ग्रन्थ विशेषण भगवान् महावीर की अनासक्त साधना का स्पष्ट निदर्शन है। भव-भवान्तरों की यात्रा के प्रवाह के बाद शाश्वत सत्य को पाने की

उत्कट अभिलाषा के कारण सांसारिक मोह माया का जाल वर्द्धमान को किञ्चित् भी विचलित नहीं कर सका। उनके जीवन का लक्ष्य आत्मिक शान्ति के साथ संसार के प्राणियों को शान्ति प्रदान करना था। उन्होंने स्वयं को साधना की कसौटी पर कसा और अनुभूत चिन्तन के परिणाम स्वरूप ऐसे मूल्यों की प्रतिष्ठा की जिसमें सर्वत्र सुख और शान्ति का समीर प्रवाहित हो सकता है।

भगवान् महावीर ने जिन चिरन्तन सत्य मूलक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। वे हैं- अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह। यहां हम भगवान् महावीर के अपरिग्रह विषयक चिन्तन को ही प्रमुख रूप से वर्णन कर रहे हैं-जो आदर्श समाज के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

आचारांग के उपधान श्रुत नामक अध्याय में लिखा है-

भगवं च एवं मन्नेसिं, सोवहिएं हु लुप्पती बाले।
कम्मं च सव्वसो णच्चा, तं पडियाइक्खे पावगं भगवं॥ 9/1-15

-अज्ञानी मनुष्य परिग्रह का संचय कर छिन्न-भिन्न होता है इस प्रकार अनुचिन्तन कर तथा सब प्रकार के कर्म को जानकर भगवान् ने प्रत्याख्यान किया।

अकसाई विगयगेही सद्दरुवेसुऽमुच्छिए झाति। 63मक्खे वि
परक्कमपाणे, णो पमायं सइं वि कुव्वित्था॥ 9/4-15

भगवान् क्रोध, मान, माया, लोभ को शांतकर, आसक्ति को छोड़, शब्द और रूप में अमूर्च्छित होकर ध्यान करते थे। उन्होंने ज्ञानावरण आदि कर्म से आवृत दशा में पराक्रम करते हुए भी एक बार प्रमाद नहीं किया।

परिग्रह क्या है- आचारांग में लिखा है-

आवंती के आवंती लोगंसि परिग्गहावंती से अप्पं वा, बहुं वा, अणुं वा, थूलं वा, चित्तमंतं वा, अचित्तमंतं वा, एतेसु चेव परिग्गहावंती।

-इस जगत् में जितने मनुष्य परिग्रही हैं, वे अल्प या बहुत, सूक्ष्म या स्थूल, सचित्त या अचित्त वस्तु का परिग्रहण करते हैं। वे इन वस्तुओं में मूर्च्छा रखने के कारण ही परिग्रही हैं।

पदार्थ पौद्गलिक है। वह परिग्रह नहीं है। मनुष्य के द्वारा मूर्च्छा पूर्वक परिगृहीत पदार्थ ही परिग्रह बनता है।

तत्वार्थसूत्र में परिग्रह को परिभाषित करते हुए सूत्र लिखा-

'मूर्च्छा परिग्रहः' अर्थात् मूर्च्छा परिग्रह है। मूर्च्छा क्या है ऐसा पूंछने पर आचार्य पूज्य पाद लिखते हैं-गाय, भैंस, मणि और मोती आदि चेतन, अचेतन बाह्य उपाधि का तथा रागादिरूप अभ्यन्तर उपाधि का संरक्षण, अर्जन और संस्कार आदि रूप व्यापार ही मूर्च्छा है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में लिखा है-

या मूर्च्छा नामेयं विज्ञातव्यः परिग्रहो ज्ञेयः।
मोहोदयादुदीर्णो मूर्च्छा तु ममत्त्वपरिणामः॥

यह जो मूर्च्छा है इसको ही निश्चय करके परिग्रह जानना चाहिए और मोह के उदय से उत्पन्न हुआ ममत्त्वरूप परिणाम ही मूर्च्छा है। इसके समानार्थक शब्दों के सम्बन्ध में लिखा है-

इच्छा मूर्च्छा कामः स्नेहो गार्ह्यं ममत्वमभिनन्दः।
अभिलाष इत्यनेकानि रागपर्यायवचनानि॥ -प्रशमरतिप्रकरण 1/18

इच्छा, मूर्च्छा, काम, स्नेह, गार्ह्य, ममत्व, अभिनन्द, अभिलाष इत्यादि अनेक राग के पर्यायावाची नाम है।

परिग्रह के भेद- परिग्रह के दो भेद प्रमुख रूप से हैं अन्तरंग और बहिरंग। भगवती आराधना में लिखा है-

मिच्छत्तवेदरागा तहेव हासादिया य छद्दोसा।
चत्तारि तह कसाया चउदस अब्भंतरा गंथा॥ गाथा 1/58

जीवादि पदार्थों का यथार्थ श्रद्धान न करना मिथ्यात्व है। स्त्री-वेद कर्मोदय से पुरुष में अभिलाषा होना स्त्री-वेद है। पुरुष-वेद कर्मोदय से स्त्री में अभिलाषा होना स्त्री-वेद है। नपुंसक वेद कर्मोदय से स्त्री-पुरुष में अभिलाषा होना नपुंसक-वेद है। हास्य, रति, अरति, शोक भय, जुगुप्सा ये 6 दोष हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय हैं। सर्व अन्तरंग परिग्रह के चौदह भेद हैं।

बाह्य परिग्रह के 10 भेद हैं- यथा

बाहिरसंगा खेत्तं वत्थुं धणधण्णकुप्पभंडाणि।
दुपयचउप्पय जाणाणि चेव सयणासणे य तहा॥ भ. आ. 1119

क्षेत्र, वास्तु (घर), धन (स्वर्णादि धातु), धान्य (गँहू आदि), कुप्य (वस्त्र), भांड (हींग, मिर्च आदि), दास, दासी (सेवक), चौपद (हाथी, घोड़ा आदि), यान (पालकी, विमान आदि), शासन (बिधान), आसन (पलंग वगैरह) ये दश परिग्रह हैं।

स्थानांग सूत्र में परिग्रह के तीन प्रकार बतलाये हैं। उनमें पहला प्रकार है शरीर। परिग्रह का मूल आधार है शरीर। दूसरा कारण और प्रकार है-कर्म संस्कार। जो संस्कार हमने अर्जित कर रखे हैं, वे संस्कार ही मनुष्य को परिग्रही बनने के लिए प्रेरित करते हैं। हिंसा के लिए प्रेरित करते हैं। तीसरा प्रकार है परिग्रह। जब अपरिग्रह पर विचार किया जाता है तो पहला सिद्धान्त निश्चित हुआ ममत्व चेतना का परिष्कार। आचारांग में लिखा है-

जे ममाइय-मतिं जहाति, से जहाति ममाइयं॥ सूत्र 2/156

जो परिग्रह की बुद्धि का त्याग करता है, वह परिग्रह का त्याग कर सकता है। जब तक चेतना का रूपान्तरण नहीं होता तब तक परिग्रह की तरफ होने वाली मूर्च्छा कम नहीं हो सकती।

अपरिग्रह व्रत की भावनाओं पर प्रकाश डालते हुए लिखा है-

अपरिग्गह समणुण्णेसु सद्दपरिसरसरूवगंधेसु।
रायद्दोसाईणं परिहारो भावणा होंति॥ -चारित्तपाहुड, 36

मनोज्ञ, अमनोज्ञ, स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण रूप पंचेन्द्रिय विषयों में राग-द्वेष का परिहार (परित्याग) करना अर्थात् मनोज्ञ विषयों में राग नहीं करना और अमनोज्ञ विषयों में द्वेष नहीं करना अपरिग्रह महाव्रत की पांच भावनायें हैं।

परिग्रह का हेतु : लोभ- पदार्थ ससीम हैं और इच्छायें व आकांक्षायें आकाश के समान असीम हैं। आकाश द्रव्य ही षट्द्रव्यों में एक ऐसा द्रव्य है जो लोक और अलोक दोनों में परिव्याप्त है। शेष पांच द्रव्य लोक में ही हैं। यही स्थिति तृष्णा की भी है। लोभ पापों का मूल कारण है। कहा गया है-

सर्वविनाशाश्रयिणः सर्वव्यसनैकराजमार्गस्य।
लोभस्य को मुखगतः क्षणमपि दुःखान्तरमुपेयात्॥

-प्रशमरति प्रकरण 1/29

लोभ सब विनाशों का मूल आधार है और सब व्यसनों का राजमार्ग है। लोभ के मुख में गया हुआ कौन मनुष्य क्षण भर के लिए भी सुख पा सकता है?

क्रोधात् प्रीतिविनाशं मानाद् विनयोपघातमाप्नोति।
शाठ्यात्प्रत्ययहानिः सर्वगुणविनाशनं लोभात्॥ -प्रशमरति प्रकरण 1/25

क्रोध से प्रीति का नाश होता है, मान से विनय का घात होता है, मायाचार से विश्वास जाता रहता है और लोभ से सभी गुण नष्ट हो जाते हैं।

लोभी की दशा के बारे में आचार्य शिवार्य लिखते है-

एवं जं जं पस्सदि दव्वं अहिलसदि पाविदुं तं तं।
सव्वजगेणं वि जीवो लोभाइट्ठो न तिप्पेदि॥ -भगवती आराधना गा. 855

लोभाविष्ट मनुष्य संसार की जिन-जिन उत्तम वस्तुओं को देखता है। उन-उन को प्राप्त करने की उत्तरोत्तर अभिलाषा करता है। त्रैलोक्य प्राप्त करने पर भी उसकी तृप्ति नहीं होती है।

जह-जह भुंजइ भोगे तह-तह भोगेसु बढढदे तण्हा।
अग्गीव इंधणाइं तण्हं दीवंति से भोगा॥ -भगवती आराधना 1263

जैसे-जैसे भोगों का सेवन करते हैं वैसे-वैसे तृष्णा बढ़ती है जैसे ईंधन के संयोग से अग्नि बढ़ती है।

लोभ पाप का मूल है और लोभ का मूल तृष्णा है जो संसारी जीव को निरन्तर संतप्त करती रहती है। स्वयम्भूस्तोत्र में आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने लिखा है-

तृष्णार्चिषः परिदहन्ति न शान्तिरासा
मिष्टेन्द्रियार्थविभवैः परिवृद्धिरेव।
स्थित्यैव कायपरितापहर निमित्त
मित्यात्मवान् विषयसौख्यपराङमुखोऽभूत्।।

तृष्णारूप अग्नि की ज्वालायें संसारी जीव को चारों ओर से जलाती हैं। अभिलषित इन्द्रिय विषयों के वैभव से इनकी शान्ति नहीं होती है, किन्तु सब ओर से वृद्धि ही होती है क्योंकि इन्द्रिय विषयों का स्वभाव ही ऐसा है। इन्द्रिय विषय शरीर के सन्ताप को दूर करने में निमित्त मात्र है। ऐसा जानकर श्री कुन्थु विषय सौख्य से परान्मुख हो गये थे।

सुखवादी मनोवृत्ति का विकास परिग्रह के विस्तार का निमित्त है। सुखपूर्वक जीवन यापन करने के लिए व्यक्ति अनेक प्रकार के बलों को संग्रह करता है। परिग्रह का सुखपूर्वक उपयोग करने के लिए शारीरिक संहनन को मजबूत और शक्ति सम्पन्न बनाने के लिए आत्म-बल का संग्रह करता हैं आत्म बल का तात्पर्य है शरीर। शरीर का समुचित संपोषण करने के लिए मद्य आदि का सेवन करता है। इनकी प्राप्ति और सुरक्षा के साधन जुटाता है, उसके पीछे परिग्रह और सुखवादी मनोवृत्ति काम करती है।

आचारांग में लिखा है-

सुहट्ठी बालप्पमाणे सएण दुक्खेण मूढे विप्परियासमुवेति।। 2/15

सुख का अर्थी बार-बार सुख की कामना करता है। वह अपने द्वारा कृत दुःख-कर्म से मूढ़ होकर विपर्यास को प्राप्त होता है। सुख का अर्थी होकर दुःख को प्राप्त करता है।

हित और अहित, कार्य और अकार्य, वर्ज्य और अवर्ज्य का अविवेक मोह है। जो मोह ग्रस्त होता है वह मूढ़ है। मूढ़ता के कारण वह पुरुष नहीं जानता कि सुख के लिए किया जाने वाला प्रयत्न वस्तुतः दुःख के लिए होगा। इसलिए वह अपने तथा दूसरों के सुख के लिए पृथ्वीकाय आदि जीव-निकायो की हिंसा करता है। उसका परिणाम है कि वह दीर्घ काल तक दुःख का अनुभव करता है।

इसके विपरीत सम्यग्दृष्टि सोचता है-

मज्झं परिग्गहे जदि तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज।
णादेव अहं जह्मा तह्मा ण परिग्गहो मज्झं।। समयसार 215

यदि यह शरीरादिक परिग्रह भी मेरे हो जायें तो फिर मैं भी अजीवपने को प्राप्त हो जाऊं। किन्तु मैं तो ज्ञाता ही हूँ इसलिए यह सब मेरे परिग्रह नहीं है।

छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं।
जह्मा तह्मा गच्छदु तहावि ण परिग्गहो मज्झं।। समयसार 218

यह शरीरादिक पर-द्रव्य भले ही छिद जावो, भिद जावो अथवा कोई इसे ले जावो, अथवा नष्ट तो जाओ तो भी यह मेरा परिग्रह नहीं है यह निश्चित है। इस प्रकार विचार कर ज्ञानी तो अपने स्वस्थ स्वभाव में रहता है।

भगवान् महावीर की समग्र साधना आत्मकेन्द्रित थी। साधना-काल में अनेकों अज्ञानियों के द्वारा कष्ट दिये गये परन्तु उन्होंने अपने लक्ष्य पर मेरु के समान अडिग रहकर प्रतिकूलता में भी अनुकूलता का अनुभव कर मोक्ष-लक्ष्मी को वरण किया। उनकी वृत्ति में 'समयसार की वह दृष्टि साक्षात द्योतित हुई

एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि।
एदेण होहि तित्तो तो होहदि उत्तमं सोक्खं।। -समयसार 219

हे आत्मन्! यदि तूं सुख चाहता है तो उसी आत्मानुभव रूप ज्ञान में तल्लीन होकर रह। उसी में सदा के लिए सन्तोष धारण कर और उसी के द्वारा तृप्त हो, सब इच्छाओं को छोड़ तभी शाश्वत सुख प्राप्त होगा।

परिग्रह के परिणाम- आज विश्व में वर्ग-संघर्ष की जो दावाग्नि प्रज्ज्वलित हो रही है, विषमतायें बढ़ रही हैं, असन्तोष और ईर्ष्या जन्म ले रही है, धनी व निर्धन, श्रम एवं पूजी, नियोजक व नियोजित आदि के मध्य जो अन्तर बढ़ता जा रहा है, मानव मानव का शोषण कर रहा है तथा हिंसक घटनायें, बेईमानी, चोरी, डकैती, व्यभिचार, अपहरण तथा युद्धों की विभीषिकायें धधक रही हैं उन सबका मूल कारण है कि विश्व के लोग प्रत्येक वस्तु को अपनी समझकर उसे येन-केन प्रकारेण प्राप्त करना चाहते हैं।

संग्रह की भावना वश व्यक्ति झूठ बोलता है, चोरी करता है, कम तौलता है-नापता है, छल कपट करता है, धोखा देता है, षड्यन्त्र रचता है, हत्यायें करता है और यहां तक कि वह भीषण युद्ध भी करता है। भगवती आराधना में लिखा है-

संगणिमित्तं मारेइ अलियवयणं च भणइ तेणिक्कं।
भजदि अपरिमिदमिच्छं सेवदि मेहुणमवि य जीवो।। गाथा1/25

परिग्रह के लिए प्राणी असि, मसि आदि षट्कर्म करता है जिससे जीवों की हिंसा, दूसरे का धन चुराने की इच्छा से घात, झूठा भाषण, मन में अमर्यादित इच्छा तथा मैथुन मे प्रवृत्ति करता है। परिग्रह त्याग बिना अहिंसादि व्रत दृढ़ नहीं हो सकते।

गंथो भयं णराणं सहोदरा एयरत्थ जा जं ते।
अण्णोण्णं मारेदुं अत्थणिमित्तं मदिमकासी।। -भगवती आराधना 1/28

परिग्रह से मनुष्य भयभीत होता है। परिग्रह की बढ़ती हुई तीव्र अभिलाषा के कारण एक माता के उदर से उत्पन्न भाई दूसरे भाई को मारने के लिए उद्यत हो जाता है।

इंदियमयं सरीरं गंथं गेण्हदि य देह सुक्खत्थं।
इंदिय सुहामिसासो गंथग्गहणेण तो सिद्धो।। -भगवती आराधना 1/63

-विषयाभिलाषा से कर्म-बन्ध होता है अतः मुमुक्षु इनसे पृथक् रहते हैं

अर्थात् परिग्रह के कारण नियम से बंध होता है। देह पंचेन्द्रिय का आधार होने से इन्द्रियमय है। इसके लिए वस्त्रादि ग्रहण करता है। तदनन्तर अन्य की अभिलाषा करके सहवास से अपनी इच्छा सिद्ध करता है। अतः परिग्रह का मूल हेतु इन्द्रियाभिलाषा है। परिग्रह ध्यान एवं स्वाध्याय में बाधक है इसलिए कर्म का संवर और निर्जरा न होने से सर्व कर्म का क्षय कैसे होगा अर्थात् नहीं।

परिग्रह हिंसा का मूल कारण है। आचार्य अमृतचन्द ने लिखा है-

हिंसापर्यायत्वात् सिद्धा हिंसान्तरङ्ग.सङ्गे.षु।
बहिरङ्गे.षु तु नियतं प्रयातु मूर्च्छैव हिंसात्वम्॥

-पुरुषार्थसिद्धयुपाय, श्लोक 119

अन्तरंग परिग्रह के जो चौदह भेद हैं वे सब हिंसा के पर्याय हैं क्योंकि विभाव परिणाम हैं, अतएव अन्तरंग परिग्रह स्वयं हिंसा रूप हुआ और बहिरंग परिग्रह ममत्व परिणामों के बिना नहीं होता, इस कारण उसमें भी हिसा है। यहां ध्यातव्य है कि ममत्व परिणामों से परिग्रह होता है, निर्ममत्व से नहीं। केवली तीर्थंकर के समवसरण की विभूति ममत्व रहित होने से परिग्रह नहीं है।

तत्त्वार्थसूत्र में लिखा है-
बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः। 6/15

बहु आरम्भ और बहु परिग्रह के भाव नरक आयु के कारण हैं। तत्वार्थ-वार्तिक में इस सूत्र की व्याख्या करते हुए आचार्य अकलंकदेव ने लिखा है-

आरम्भ हिसंक कर्म (व्यापार) है। हिंसन शील हिंसक होते हैं और उन हिंसकों के कर्म हैंस्य हैं। यह आरम्भ कहलाता है।

'यह मेरा है इस प्रकार का संकल्प परिग्रह है-यह मेरी वस्तु है मैं इसका स्वामी हूँ'। इस प्रकार का आत्मीय अभिमान एक संकल्प परिग्रह कहलाता है। परिग्रह लोलुप व्यक्ति तीव्रतर कषाय परिणाम वाले और हिंसा में तत्पर होते

हैं। यह बहुत बार जाना गया है, देखा गया है, अनुमान के द्वारा भावित है और सुना गया है। उन कर्मों को आत्मसात् करने से वे व्यक्ति लोहे के तपे हुए गोले के समान कषाय-ज्वालाओं से संतप्त होकर क्रूरकर्मा होते हैं और नरकायु का आस्रव करते हैं। उनका विस्तार इस प्रकार है- मिथ्यादर्शन, अशिष्ट आचरण, उत्कृष्ट मान, पत्थर की रेखा के समान क्रोध, तीव्र लोभानुराग, अनुकम्पा रहित भाव, पर-परिताप में खुश होना, बध-बन्धन आदि का अभिनिवेश, जीवों की सतत हिंसा करना, प्राणिवध, असत्यभाषणशीलिता, परधनहरण, गुपचुप राग-चेष्टायें, मैथुन प्रवृत्ति, बहु आरम्भ, इन्द्रिय परवशता, तीव्र काम भोगाभिलाषा की प्रवृद्धता, निःशीलता, पापनिमित्तक भोजन का अभिप्राय, बद्धवैरता, क्रूरतापूर्वक रोना-चिल्लाना, अनुग्रहरहित स्वभाव, यति वर्ग में फूट पैदा करना, तीर्थकर की आसादना, कृष्णलेश्या से उत्पन्न रौद्र परिणाम और रौद्रध्यानपूर्वक मरण आदि नरक आयु में आस्रव हैं।

अपरिग्रही व्यक्ति ही सच्चा ज्ञानी है- जिन शासन में सम्यग्ज्ञान का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मनुष्य ज्ञान से ही महान होता है परन्तु वह कौन सा ज्ञान है उसके सम्बन्ध में आचार्य वट्टकेर ने लिखा है-

जेण रागा विरज्जेज्ज जेण ऐएसु रज्जदि।
जेण मित्तीं पभावेज्ज तं णाणं जिणसासणे।। -मूलाचार, 268

जिसके द्वारा जीव राग से विरक्त होता है, जिसके द्वारा मोक्ष में राग करता है, जिसके द्वारा मैत्री को भावित करता है, जिन-शासन में वह ज्ञान कहा जाता है।

जस्स रागो य दोसो य वियडिं ण जणेंति दु।
जेण कोधो य माणो य माया लोहो य णिज्जिदो।। -मूलाचार, 527

जिस जीव के राग और द्वेष विकार को उत्पन्न नहीं करते हैं तथा जिन्होंने क्रोध, मान, माया और लोभ को जीत लिया है, उनके ही सामायिक चरित्र होता है।

समयसार में तो वास्तविक ज्ञान की परिणति त्याग रूप ही बतलायी गयी है। आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है-

णाणं सव्वे भावे पच्चक्खाई परेत्ति णादूण।
तह्मा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेदव्वं।। -समयसार, 39

यह आत्मा जब अपने से भिन्न पदार्थों को पर जान लेता है तब उन्हें उसी समय छोड़ देता है अतः वास्तव में ज्ञान ही प्रत्याख्यान है। इसी गाथा की टीका में लिखा है- 'जानाति इति ज्ञानं' इस प्रकार ज्ञान शब्द की व्युत्पत्ति है। अतः स्वसंवेदन ज्ञान ही आत्मा नाम से कहा जाता है। वह ज्ञान जब मिथ्यात्व और रागादि भावों को ये परस्वरूप हैं ऐसा जान लेता है, तब उन्हें छोड़ देता है, उनसे दूर हो जाता है। इसलिए निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान ही नियम से प्रत्याख्यान है ऐसा मानना, जानना और अनुभव करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि परम समाधि काल में स्वसंवेदन ज्ञान के बल से आत्मा अपने आप को शुद्ध अनुभव करता है। यह अनुभव ही निश्चय प्रत्याख्यान है।

ज्ञानी विचार करता है-

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि, अण्णं परमाणुमित्तं पि।। -समयसार, 43

मैं एकाकी हूँ, शुद्ध हूँ अर्थात् परद्रव्य के सम्बन्ध से सर्वथा रहित हूँ, दर्शन-ज्ञानमयी हूँ और सदा अरूपी हूँ अन्य परद्रव्य परमाणु मात्र भी मेरा कुछ भी नहीं लगता।

सामाजिक वृत्ति में अपरिग्रह की भूमिका- भगवान् महावीर ने अपने समग्र जीवन में अनासक्ति या अपरिग्रह की वृत्ति को चरितार्थ कर शाश्वत सत्य को प्राप्त किया, परन्तु सभी व्यक्ति पूर्ण-रूप से निवृत्त तो नहीं हो सकते अतः वे कैसे अपना जीवन-यापन करें इसके लिए भगवान् महावीर ने संग्रह के सीमाकरण तथा इच्छा परिमाण के महत्वपूर्ण सूत्र दिये जिनसे सामाजिक सन्तुलन बना रह सकता है। मनुष्य की इच्छायें असीम हैं, पदार्थ सीमित हैं। वह जो चाहता है प्रायः वह होता नहीं है और जो होता है वह चाहता नहीं। वर्तमान में भोगोपभोग की वस्तुओं के सीमाकरण से ही शोषण-विहीन समाज की स्थापना संभव हो सकती है।

परिग्रह के दुखद परिणामों को आज विश्व-समाज भोग रहा है। धन-लोलुपता तथा भौतिक तुष्टि के लिए आज विश्व समाज अनेक वादो में विभक्त हो गया है जैसे पूंजीवादी, साम्यवादी, समाजवादी, प्रजातान्त्रिक समाजवादी, विकसित समाज, विकासशील समाज तथा अविकसित समाज। इन समाजों के बीच स्पर्धा, प्रतिद्वन्द्विता ने उन भौतिक उपलब्धियों वश विश्व समाज को तनावों, विषमताओं, ध्वंसात्मक विकृत्तियों ने एक दूसरे को आर्थिक शोषण के लिए आतुर कर दिया है। आज समाज में भ्रष्टाचार, मिलावट, चोर-बाजारी, जमाखोरी, मुनाफाखोरी, काला धन्धा, तस्करी आदि विकृतियों से सर्वत्र अविश्वास का वातावरण व्याप्त है। अवैध तरीकों से धन प्राप्त करना ही मनुष्य का एकमात्र ध्येय हो गया है। ऐसी स्थिति में भगवान् महावीर का परिग्रह परिमाण व्रत ही समाधान देने में समर्थ है।

परिग्रह त्याग महाव्रत में अंतरंग एवं बहिरंग सभी परिग्रहों का त्याग रहता है परन्तु गृहस्थ परिग्रह का पूर्ण त्याग नहीं कर सकता। वह अपनी आवश्यकता के अनुसार सीमा निश्चित कर सकता है। गृहस्थ की आवश्यकतायें भिन्न-भिन्न प्रकार की हुआ करतीं हैं। किसी का परिवार बड़ा है अतः उसे अधिक परिग्रह रखना पड़ता है। इसलिए परिग्रह परिमाण व्रत को इच्छा परिमाण नाम भी दिया है आचार्य समन्भद्र ने लिखा है-

धनधान्यादि ग्रन्थ परिमाय ततोऽधिकेषु निःस्पृहता।
परिमितपरिग्रहः स्यादिच्छापरिमाणनामापि।। -रत्नकरण्ड श्रावकाचार, 3-15

-धन-धान्यादि परिग्रह का परिमाण कर उससे अधिक में इच्छा रहित होना परिमित परिग्रह अथवा इच्छा परिमाण नामक अणुव्रत होता है।

परिग्रह परिमाण से अस्तेय व्रत का भी परिपालन संभव है। चोरी अथवा शोषण का उद्गम संचय वृत्ति तथा स्वयं परिश्रम न करने की वृत्ति में होता है। संग्रह की भावना वश व्यक्ति झूठ बोलता है, चोरी करता है, कम तौलता-नापता है, छल-कपट करता है, धोखा देता है, षड्यन्त्र करता है, हत्यायें करता है और यहां तक कि भीषण युद्ध भी करता है। अतः इनका

नियमन करने के लिए समाज व्यवस्था के लिए निम्न बातों पर ध्यान अपेक्षित है-

1. धन संग्रह में अवैध उपायों का सहारा न लें।
2. आजीविका के निमित्त ऐसे व्यवसायों का चयन न करें जो समाज में हिंसा को फैलाते हैं।
3. अर्जन के साथ विसर्जन का भी नियम-धारण करें।
4. अपने व्यापार में लाभांश का प्रतिशत सुनिश्चित कर, उससे अधिक का त्याग करें।
5. अपनी इच्छाओं का परिसीमन करें।
6. अपने अधीनस्थ कर्मचारियों का शोषण न करें।
7. व्यवसाय में प्रामाणिक रहें। अपने कर्त्तव्य के प्रति निष्ठावान् बनें।
8. अनावश्यक वस्तुओं का संग्रह न करें।
9. सन्तोष पूर्वक जीवन-यापन करें।

आचार्य अमितगति ने लिखा है-

त्रिदशाः किङ्कारास्तस्य हस्ते तस्यामरद्रुमाः।
निधयो मन्दिरे तस्य सन्तोषो यस्य निश्चितः॥ -धर्म परीक्षा, 19-71

-जिसके अन्तःकरण में सन्तोष अवस्थित है उसके देव, सेवक बन जाते हैं, कल्पवृक्ष उसके हाथ में अवस्थित के समान हो जाते हैं तथा निधियां उसके भवन में निवास करतीं हैं।

वस्तुत: अपरिग्रह की भावना से ही सर्वोदय समाज की कल्पना साकार हो सकती है। अत: भगवान् महावीर का अपरिग्रह दर्शन वर्तमान परिप्रेक्ष्य में अत्यंत उपयोगी है।

विभागाध्यक्ष, जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्म-दर्शन विभाग
जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं (राज.)

जीव का अकाल मरण : एक व्यापक दृष्टि

-डॉ. श्रेयांसकुमार जैन

जीव का अकालमरण भी होता है, ऐसा प्राक्तन आचार्यों ने कहा है। भुज्यमान आयु के अपकर्षण का कथन बहुलता से किया गया है अधिकांश रूप से यह कहा गया है कि कर्मभूमिया तिर्यञ्च और मनुष्य अपवर्त्य आयु वाले होते हैं क्योंकि इनकी भुज्यमान आयु की उदीरणा संभव है।

मुख्यतः आध्यात्मिक विषय के प्रतिपादक तत्त्वार्थसूत्र नामक ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय के अन्तिम सूत्र "**औपपादिकचरमोत्तमदेहाऽसंख्येय वर्षायुषोऽनपवर्त्त्यायुषः**" से स्पष्ट है कि उपपाद जन्म वाले देव और नारकी, चरमोत्तम देहधारी और असंख्यात वर्ष की आयु वाले जीव अनपवर्त्य (परिपूर्ण) आयु वाले होते हैं। जो इनसे भिन्न संख्यात वर्षायुष्क कर्मभूमियां मनुष्य और तिर्यञ्च हैं वे अपूर्ण आयु वाले भी होते हैं, उनकी आयु पूर्ण होने से पहिले भी क्षय हो सकती है।

सूत्र में आये हुए अनपवर्त्य शब्द के आधार पर ही आचार्य अकलंक देव ने लिखा है "**बाह्यस्योपघातनिमित्तस्यविषशस्त्रादेः सति सन्निधाने ह्रासोऽपवर्त इत्युच्यते। अपवर्त्यमायुः येषां त इमे अपवर्त्यायुषः नापवर्त्यायुषोऽनपवर्त्यायुषः। एते औपपादिकादय उक्ता अनपवर्त्यायुषाः, न हि तेषामायुषो बाह्य निमित्तवशादपवर्तोऽस्ति।**" अर्थात् बाह्य कारणों के कारण आयु का ह्रास होना अपवर्त है। बाह्य उपघात के निमित्त विष शस्त्रादि के कारण आयु का ह्रास होता है, वह अपवर्त है। अपवर्त आयु जिनके है, वह अपवर्त आयु वाले हैं और जिनकी आयु का अपवर्तन नहीं होता, वे देव नारकी चरम शरीरी और भोगभूमियां जीव अनपवर्त आयु वाले हैं क्योंकि बाह्यकारणों से इनकी आयु का अपवर्तन नहीं होता है।

अपवर्तन शब्द का अर्थ घटना, कम होना है और अनपवर्तन का अर्थ कम न होना है। आयु कर्म का अपवर्तन ही अकालमरण है। अर्थात् पूर्वबन्ध

अनन्तर होने वाले आयु कर्म का उदय होकर उसके क्षय के कारण जो मरण होता है, उसको अकालमरण या अपमृत्यु कहते हैं। जो मरण आयु कर्म के पूर्वबन्ध के अनुसार अपवर्तन के अभाव में होता है, वही स्वकालमरण है।

शास्त्रों में स्वकालमरण और अकालमरण द्रोनों का व्याख्यान है, किन्तु नियतिवाद के पोषक एकान्तवादी विद्वानों ने पर्यायों की नियतता को सिद्ध करने के लिए शास्त्रों में वर्णित अकालमरण जैसे विषय का निषेध करना शुरु किया। ऐसा करना मुझे सोद्देश्य लगता है क्योंकि लोगों को संसार शरीर भोगों से भयभीत न रहने की प्रेरणा और पुरुषार्थहीन बनाना उनका उद्देश्य रहा है, जिससे भोग विलासिता में लिप्त रहते हुए भी उन्हें बिना त्याग और तप के धर्मात्मा माना जाना जाय। संसार शरीर से राग करने वाले वे लोग महात्मा, सत्पुरुष कहलायें ऐसे लोगों के मन्तव्य को पुष्ट करने हेतु डॉ. हुकुमचन्द भारिल्ल द्वारा लिखित ''क्रमबद्ध पर्याय'' नामक पुस्तक जबसे प्रकाशित हुई तभी से विशेष रूप से लोगों को ''अकालमरण'' नहीं होता है, यह मतिभ्रम हुआ है, क्योंकि इस पुस्तक में आचार्य प्रणीत ग्रन्थों की उपेक्षा कर क्रमबद्ध पर्याय की सिद्धि हेतु अकालमरण का निषेघ किया गया है, केवल कालमरण को ही माना है, जो व्यवहारनय के विपरीत है।

आचार्यों ने निश्चय-व्यवहार का आश्रय लेकर ही सर्वत्र व्याख्यान किया है, उन्होंने ''अकालमरण'' के विषय में जो कहा है, वहीं यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। प्राय: सभी आर्ष ग्रन्थों में अकालमरण को माना गया है।

पञ्च समवाय ही कार्य साधक हैं। अकेले नियति से सिद्धि नहीं होने वाली है। कार्य की सिद्धि के लिए निमित्त और पुरुषार्थ की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। कुछ ऐसे निमित्त जीव को मिलते हैं, जिनके कारण भुज्यमान आयु की उदीरणा हो जाती है और जीव का समय से पूर्व अकाल में ही मरण हो जाता है। इसी को शास्त्रीय प्रमाणों सहित प्रस्तुत किया जा रहा है-

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने अकालमरण के निम्न कारण बतलायें हैं-

विसवेयणरत्तक्खयभयसत्थग्गहणं संकिलेसाणं।
आहारुस्सासाणं णिरोहणा खिज्जदे आऊ॥ 25॥

हिमअणलसलिलगुरुयरपव्वतरुरुहणपउयणभंगेहिं।
रसविज्जोयधराणं अणयपसंगेहिं विविहेहिं॥ 26॥ -भावपाहुड

अर्थात्- विष भक्षण से, वेदना की पीड़ा के निमित्त से, रुधिर के क्षय हो जाने से, भय से, शस्त्रघात से, संक्लेश परिणाम से, आहार तथा श्वास के निरोध से, आयु का क्षय हो जाता है और हिमपात से, अग्नि से जलने के कारण, जल में डूबने से, बड़े पर्वत पर चढ़कर गिरने से, बड़े वृक्ष पर चढ़कर गिरने से, शरीर का भंग होने से, पारा आदि रस के संयोग (भक्षण) से आयु का व्युच्छेद हो जाता है।

आचार्य शिवार्य सल्लेखना लेने वाले भव्यात्मा को संबोधन करते हुए कहते हैं-

इय तिरिय मणुयं जम्मे सुइदं उववज्झि ऊण बहुबारं।
अवमिच्चु महादुक्खं तिव्वं पत्तोसि तं मित्तं॥ 26॥ -भगवती आराधना

हे मित्र! इस प्रकार तिर्यञ्च और मनुष्य जन्म में चिरकाल तक अनेक बार उत्पन्न होकर तू अपमृत्यु के महादु:ख को प्राप्त हुआ है।

उक्त कथन अकालमरण की मान्यता में साधक ही हैं, बाधक नहीं हैं। आयु कर्म है इसका पूर्ण होने से पूर्व ही उदय में आना उदीरणा है। किसी भी कर्म की उदीरणा उसके उदयकाल में ही होती है। यह उदीरणा भुज्यमान तिर्यञ्चायु और मनुष्यायु की सर्व सम्मत है किन्तु भुज्यमान देवायु और नरकायु की भी उदीरणा सिद्धान्त में मिलती है जैसा कि लिखा भी है "**संकमणाकरणूणा णवकरणा होंति सव्व आऊणं**" (गोम्मट. कर्म गा. 441) एक संक्रमण को छोड़कर बाकी के बन्ध, उत्कर्षण, अपकर्षण, उदीरणा, सत्व, उदय, उपशान्त, निधत्ति और निकाचना ये नवकरण सम्पूर्ण आयुओं में होते हैं।

किसी भी कर्म की उदीरणा उसके उदयकाल में ही होती है उदीरणा को परिभाषित करते हुए नेमिचन्द्राचार्य ने कहा है "उदयावली के द्रव्य से अधिक स्थिति वाले द्रव्य को अपकर्षण के द्वारा उदयावली में डाल देना उदीरणा है।"(1) इससे निष्कर्ष निकला कि कर्म की उदीरणा उसके उदय हालत में ही हो सकती है अथवा अनुदय प्राप्त कर्म को उदय में लाने को

उदीरणा कहते हैं।[2]

उदीरणा भुज्यमान आयु की ही हो सकती है क्योंकि गोम्मटसार कर्मकाण्ड मे बध्यमान आयु की उदीरणा का **"परभव आउगस्स च उदीरणा णत्थि णियमेण"** इस नियम के आधार से स्पष्ट निषेध किया गया है। यह भी कहा है कि देव नारकी, चरमोत्तम देह के धारक असंख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य तिर्यञ्च को छोड़कर बाकी के उदयगत आयु की उदीरणा संभव नहीं है।[3]

सभी कर्मों की उदीरणा अपकर्षण होने पर ही होती है। जब तक कर्म के द्रव्य की स्थिति का अपकर्षण नहीं होगा, तब तक उस द्रव्य का उदयावली में क्षेपण नहीं हो सकता। जो कर्म अधिक समय तक उदय में आता रहेगा, वह उदयावली में प्रक्षिप्त होने पर उदय में आकर नष्ट हो जायेगा। यह अपकर्षण के बिना नहीं हो सकता।

भट्टाकलंक देव ने औपपादिक जन्म वाले देव-नारकी, चरमोत्तम देह धारी और असंख्यात वर्षायुष्क को अनपवर्त्य आयु वाले अर्थात् कालमरण को प्राप्त होने वाले बताकर स्पष्ट कर दिया है कि जिनकी आयु संख्यात वर्ष की होती है ऐसे कर्मभूमियां मनुष्य और तिर्यञ्च अपवर्त्य अर्थात् अकालमरण को प्राप्त हो सकते हैं, उन्होंने लिखा है **"अप्राप्तकालस्य मरणानुपलब्धेरपवर्ताभाव इति चेत्, न, दृष्टत्वादाम्रफलादिवत्। यथा अवधारितपाककालात प्राक सोपायोपक्रमे सत्याम्र-फलादीनां दृष्टपाकस्तथा परिच्छिन्नमरणकालात् प्रागुदीरणा प्रत्यय आयुषो भवत्यपवर्तः"**। अर्थात् अप्राप्तकाल में मरण की अनुपलब्धि होने से अकालमरण नहीं है, ऐसा नहीं कहना क्योंकि फलादि के समान। जैसे कागज आदि उपायों के द्वारा आम्र आदि फल अवधारित (निश्चित) परिपाक काल के पूर्व ही पका दिए जाते हैं या परिपक्व हो जाते हैं, ऐसा देखा जाता है-उसी प्रकार परिच्छिन्न (अवधारित) मरणकाल के पूर्व ही उदीरणा के कारण से आयु की उदीरणा होकर अकालमरण हो जाता है। (तत्त्वार्थकार्तिक 2/52 की टीका) आचार्यवर्य आगे इसी को सिद्ध करने के लिए और प्रमाण देते हैं वे कहते हैं कि आयुर्वेद के सामर्थ्य से अकालमरण सिद्ध होता है, जैसे अष्टांग आयुर्वेद को जानने वाला अति निपुण वैद्य यथाकाल वातादि के उदय पूर्व ही वमन, विरेचन आदि के द्वारा अनुदीर्ण ही

कफ आदि दोषों को बलात् निकाल देता है, दूर कर देता है तथा अकाल मृत्यु को दूर करने के लिए रसायन आदि का उपदेश देता है। यदि अकालमरण न होता तो रसायन आदि का उपदेश व्यर्थ है। रसायन का उपदेश है अतः आयुर्वेद के सामर्थ्य से भी अकालमरण सिद्ध होता है। दुःख का प्रतीकार करने के लिए आयुर्वेदिक प्रयोग है, ऐसा नहीं है उभयतः औषधि का प्रयोग देखा जाता है। केवल दुःख के प्रतीकार के लिए ही औषधि दी जाती है, यह बात नहीं है, अपितु उत्पन्न रोग को दूर करने के लिए और अनुत्पन्न को हटाने के लिए भी दी जाती है। जैसे औषधि से असाता कर्म दूर किया जाता है, उसी प्रकार विष आदि के द्वारा आयु ह्रास और उसके अनुकूल औषधि से आयु का अनपवर्त देखा जाता है।[4]

महान् तार्किक विद्यानन्द स्वामी भी उक्त कथन का काल और अकालनयों की दृष्टि से समर्थन करते हुए लिखते है[5] कि जिनका मरणकाल प्राप्त नहीं हुआ उनके भी मरण का अभाव नहीं है अर्थात् उनका भी मरण हो जाता है क्योंकि खड्ग प्रहार आदि के द्वारा मरणकाल प्राप्त न होने पर भी मरण देखा जाता है। यदि यह कहा जाये कि जिनका मृत्युकाल आ गया उन्ही का खड्ग प्रहार आदि द्वारा मरण देखा जाता है, जिनका मरणकाल आ गया उनका तो उस समय मरण होगा ही, अतः वह खड्ग प्रहार आदि की अपेक्षा नहीं रखता अर्थात् खड्ग प्रहार आदि होगा तब भी मरण होगा और खड्ग प्रहार आदि नहीं होगा तब भी मरण होगा क्योंकि उसका मरणकाल व्यवस्थित है। जिनके मरणकाल का खड्ग प्रहार आदि अन्वय व्यतिरेक है अर्थात् खड्ग प्रहार आदि होगा तो मृत्युकाल उत्पन्न हो जायेगा, यदि खड्ग प्रहार आदि नहीं होगा तो मरणकाल उत्पन्न नहीं होगा, उनका मृत्युकाल अव्यवस्थित (अनियत) है अन्यथा खड्ग प्रहार आदि की निरपेक्षता का प्रसंग आ जायगा किन्तु अकाल मृत्यु के अभाव में आयुर्वेद की प्रमाणभूत चिकित्सा तथा शल्य चिकित्सा (आंपरेशन) की सामर्थ्य का प्रयोग किस पर किया जाए? क्योंकि चिकित्सा आदि का प्रयोग अकाल मृत्यु के प्रतीकार के लिए किया जाता है। आगे और भी कहते हैं-''कस्यचिदायुरुदयान्तरङ्गे हेतौ बहिरङ्गे पथ्याहारादौ विच्छिन्ने जीवनस्याभावे प्रसक्ते तत्सम्पादनाय जीवनाधानयेवापमृत्योरस्तु प्रतिकारः'' अर्थात् आयु का अन्तरङ्ग कारण होने पर भी किन्तु पथ्य आहार आदि के विच्छेद

रूप बहिरङ्ग कारण मिल जाने से जीवन के अभाव का प्रसंग आ जाता है। ऐसा प्रसंग आने पर जीवन के आधारभूत आहारादिक अकाल मृत्यु के प्रतिकार हैं। हां, अकालमरण का मृत्युकाल निश्चित होता तो अकाल मृत्यु का प्रतिकार नहीं हो सकता था जैसे कालमरण का मृत्युकाल व्यवस्थित है, उसका प्रतिकार नहीं हो सकता किन्तु अकाल मृत्यु का प्रतिकार हो सकता है क्योंकि अकाल मृत्यु का मृत्युकाल अव्यवस्थित (अनियत) है, वह मृत्युकाल बहिरंग विशेष कारणों से उत्पन्न होता है।

बाह्यकारणों से आयु का क्षय होता है यही बात नेमिचन्द्राचार्य ने कही है।[(6)] भगवती आराधना में असत्य के प्रसंग में कहा गया है "विद्यमान पदार्थ का प्रतिषेध करना सो प्रथम असत्य है जैसे कर्मभूमि के मनुष्य की अकाल में मृत्यु का निषेध करना।"[(7)] यह प्रथम असत्य मानना निश्चित ही कालमरण के समान अकालमरण की सत्ता सिद्ध करता है। कर्मभूमियां मनुष्य और तिर्यञ्च जीवों की बध्यमान और भुज्यमान आयु में अपवर्तन होता है इसका प्रमाण तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक से निम्न रूप में देखिए- "**आयुर्बन्धं कुर्वतां जीवानां परिणामवशेन बध्यमान भवति। तदेवापवर्तनं घात इत्युच्यते। उदीयमानायुरपवर्तस्य कदलीघाताभिधानात्।**" आयु कर्म का बन्ध करने वाले जीवों की परिणाम के कारण से बध्यमान आयु का अपवर्तन भी होता है, वही अपवर्तन घात कहा जाता है क्योंकि उदीयमान आयु के अपवर्तन का नाम कदलीघात है।

आचार्यों ने ऐसे महापुरुषों का उल्लेख किया है जिनका अकाल में आयु का क्षय हुआ है।

जैनागम में नय विवक्षा के कथन को ही प्रामाणिक माना गया है आचार्य अमृतचन्द्र काल के साथ अकाल का उल्लेख करते हुए लिखते हैं-"**कालनयेन निदाघदिवसानुसारि पच्यमानसहकारफलवत्समयापत्रसिद्धिः अकालनयेन कृत्रिमोष्म पच्यमानसहकारफलवत्समयानायत्त सिद्धिः**" (प्रवचनसार) अर्थात् काल नय से कार्य की सिद्धि समय के अधीन होती है, जैसे आम्रफल गर्मी के दिनों में पकता है। अर्थात् कालनय से कार्य अपने व्यवस्थित समय पर होता है। अकालनय से कार्य की सिद्धि समय के अधीन नहीं होती है जैसे

आम्रफल को कृत्रिम गर्मी से पका लिया जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि सर्वकार्य काल के अनुसार ही होते हैं ऐसा नहीं है क्योंकि जहाँ काल के आधार पर कार्य सिद्धि बतायी है, वहीं अकाल मे भी कार्य होता है ऐसा सर्वज्ञ का कथन है। यही प्रामाणिक है।

अनेक पौराणिक कथनों के आधार पर आयु के अपकर्षकरण का स्पष्टीकरण हो जाता है। लौकिक उदाहरण से भी समझा जा सकता है। जैसे मोटर गाड़ी की तेल की टंकी पूरी भरी हुई है, उसके द्वारा हजार मील की यात्रा पूरी हो सकती है, किन्तु गाड़ी चार सौ मील चलकर रुक गयी। जब कारण पर विचार किया गया तब पता चली कि टंकी मे सुराख हो जाने से तेल क्षय को प्राप्त हो गया। अत: गाड़ी समय से पूर्व बन्द हो गई। यात्रा भी पूरी न करा सकी इसी प्रकार आयु कर्म भी किसी बाह्य या अन्तरंग निमित्त को पाकर समय से पूर्व क्षय को प्राप्त हो जाता है।

यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि बध्यमान आयु की स्थिति में और अनुभाग में जिस प्रकार अपवर्तन होता है, उसी प्रकार भुज्यमान आयु की स्थिति और अनुभाग में भी अपवर्तन होता है किन्तु बध्यमान आयु की उदीरणा नहीं होती और भुज्यमान आयु की उदीरणा होती है, जिससे अकालमरण भी होता है, यह उक्त अनेकों प्रमाणों से सिद्ध होता है।

1 अण्णत्थठियस्सुदये संधुहणमुदीरणा हु अत्थि तं। गो कर्म गा 439 उदयावलि बाह्यस्थितस्थित द्रव्यस्यापकर्षणवशादुदयावलया निक्षेपणमुदीरणा खलु। 2 अपक्वपाचनमुदीरणा। 3 परभवायुषो नियमनादीरणा नास्ति उदयगतस्यैवापपादिकचरमोत्तमदेहा संख्येय वर्षायुष्याऽन्यत्र तत्सम्भवात्।। गो कर्म गा 918
4 तत्त्वार्थवार्तिक प्रथम भाग पृ 427,28 (आर्यिका सुपार्श्वमति कृत टीका)।
5 न ह्यप्राप्तकालस्य मरणाभाव, खड्गप्रहारादिभिर्मरणस्य दर्शनात्। प्राप्त कालस्यैव तस्य तथा दर्शनमिति चेत्
6 पुनरसौ काल प्राप्ताऽपमृत्युकालवार प्रथमपक्ष सिद्धसाध्यता, द्वितीय पक्ष खड्गप्रहारादिनिरपेक्षत्व प्रसग: सकलबहि, कारणविशेष निरपेक्षस्य मृत्युकारणस्य मृत्युकाल व्यवस्थित, शस्त्रसपातादि बहिरंगकारणान्वय व्यतिरेकानुविधायिनस्तस्यापमृत्युकालत्वोपपत्त:। तदभाव पुनरायुर्वेद प्रामाण्यचिकित्सादीना क्व सामर्थ्योपयोगा:। -तत्त्वार्थवार्तिक, 2/53 की टीका
6 विसवेयणरत्तक्खय भयसत्थग्गहण संकिलेसेहि। उस्सासाहाराण णिरोहणा छिज्जदे आऊ।। -कर्मकाण्ड, 57
7 पढमे असमत्तवयण सम्भूदत्थस्स होदि पडिसेहो।

णत्थि णरस्स अकाले मच्चुत्ति जधेयमादीयं।। -भग 830 गाथा

-रीडर-संस्कृत विभाग
दि. जैन कॉलेज, बड़ौत